

करत-करत अभ्यास

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य विभाग

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनू-341306

जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (01581) 226080,244671

ई-मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at

<https://books.jvbharati.org>

© जैन विश्व भारती, लाडनू

संस्करण : 2021

मूल्य : 00/- (..... रुपये मात्र)

₹.....

मुद्रक :

KARAT-KARAT ABHYASH
by Sadhvipramukha Kanakprabha

शुभाशंसा

साहित्य ज्ञान का संवाहक होता है। किसी भी संस्कृति को परम्परित बनाए रखने में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। अपेक्षा इस बात की रहती है कि साहित्य प्राणवान हो। वह केवल शब्दों का समूह ही नहीं, वह अपने ठीक निशाने पर वेध करने वाला भी होना चाहिए। वह पाठक के लिए सुबोध और सुग्राह्य भी होना चाहिए। कोई-कोई साहित्य दुर्बोध भी हो सकता है, जिससे पाठक के मस्तिष्क की एक्सरसाइज हो सके और जो कुछ गंभीर अध्येताओं की दृष्टि से ही निर्मित किया गया हो।

हमारे धर्मसंघ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ में साहित्य की सुर-सरिता भी अपनी गति से प्रवहमान है। परमपूज्य आचार्य भिक्षु, परमपूज्य श्रीमद् जयाचार्य, परमपूज्य गुरुदेव आचार्य तुलसी और परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञ आदि के साहित्य को हमारे धर्मसंघ के परिप्रेक्ष्य में महिमामण्डित साहित्य के रूप में देखा जा सकता है।

महाश्रमणी संघमहानिदेशिका असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने भी हमारे धर्मसंघ की साहित्य-सम्पदा को संवर्धित करने में अपना विशिष्ट योगदान प्रदान किया है। साध्वीप्रमुखाजी हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं की विदुषी है। भाषायी ज्ञान के साथ-साथ उनकी काव्य प्रतिभा भी श्लाघनीय है। साहित्य-सम्पादन में उन्होंने कौशल प्राप्त किया है ऐसा प्रतीत होता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के साहित्य को प्रकाशनार्ह बनाने में उन्होंने अपनी प्रतिभा का भी भरपूर उपयोग किया। तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर दीक्षित हुई साध्वीप्रमुखाजी की साहित्यिक प्रतिभा ने सम्पादन की सीमा पारकर लेखन-सिन्धु में भी अवगाहन किया है। उनकी स्वयं की लिखित पुस्तकें भी हमारे धर्मसंघ के साहित्य-सन्दोह का एक सुन्दर हिस्सा है।

साध्वी-समुदाय आदि के प्रबन्धन-प्रशासन कार्य में पिछले करीब पचास वर्षों से अपनी सेवा अर्पण करने वाली साध्वीप्रमुखाजी का साध्वीप्रमुखा काल का पचासवां वर्ष चल रहा है। इस उपलक्ष्य में मेरे इंगित के अनुसार उनके साहित्य को नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। जीवन के नौवें दशक में यात्रायित साध्वीप्रमुखाजी लम्बे काल तक अन्यान्य सेवाओं के साथ साहित्य-जगत की भी सेवा करती रहें। साध्वीप्रमुखा कार्यकाल के अमृत-महोत्सव के उपलक्ष्य में जुड़ा हुआ, नई विधा से प्रस्तुत होने वाला यह साहित्य वाङ्मय जगत की सुषमा को बढ़ाने वाला और पाठक आदि को यथायोग्य पथदर्शन देने वाला सिद्ध हो। साहित्य के नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण से उनके अमृत महोत्सव की भी उपयोगिता सुष्ठुरूपेण और अधिक सिद्ध हो, मंगलकामना।

7 सितम्बर, 2021
भीलवाड़ा

आचार्य महाश्रमण

पुरोवाक्

बात ईस्वी सन 1960 की है। उन दिनों मैं 'पारमार्थिक शिक्षण संस्था' में शिक्षा प्राप्त कर रही थी। 'तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह' का प्रसंग सामने था। उस अवसर पर दीक्षा-समारोह आयोजित होने की संभावना थी। दीक्षा की स्वीकृति और दीक्षासंस्कार के बीच का समय दीक्षार्थी भाई-बहनों और उनके सम्बन्धियों के लिए उल्लास और उत्साह का समय होता है। पारिवारिक जनों की इच्छा रहती है कि दीक्षार्थी भाई-बहनें सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सज्जित रहें और उनकी शोभा-यात्राएं निकाली जाएं। एक ओर संसार से विरक्ति, दूसरी ओर यह तामझाम। एक सीमा तक परिवार का लाड़-प्यार भी उचित हो सकता है, पर जब कभी सीमाओं का अतिक्रमण होता है, उसे नियंत्रित करना भी आवश्यक हो जाता है। 'पारमार्थिक शिक्षण संस्था' के तत्कालीन अध्यक्ष श्री जबरमलजी भण्डारी ने इस सन्दर्भ में नया चिन्तन दिया। उनके निर्देश से कुछ नियम निर्धारित किए गए। उन नियमों की जानकारी समाज को भी रहे, इस दृष्टि से भण्डारीजी ने एक लेख लिखने के लिए कहा। उनका इंगित मेरी ओर था। मैंने लेख लिखकर उनको दे दिया। यह प्रसंग राणावास का है। वहां वार्षिक परीक्षा होने के बाद हम लोगों ने रीछेड़ (मेवाड़) में गुरुदेव श्री तुलसी के दर्शन किए। आगामी आषाढी पूर्णिमा को होनेवाले दीक्षा-समारोह में मुझे भी दीक्षा की आज्ञा प्राप्त हो गई। वहां से मैं लाडनूं चली गई। कुछ दिनों बाद 'जैन भारती' (26 जून, 1960) में वह लेख प्रकाशित हो गया। वह मेरा प्रथम लेख था।

'तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह' की प्रमुख आयोजना। तेरापंथ स्थापना दिवस (वि.सं. 2017, आषाढ शुक्ला पूर्णिमा) को गुरुदेव ने तेरह भाई-बहनों को दीक्षित किया।

उस संख्या में एक नाम मेरा भी था। दीक्षा के कुछ समय बाद ही मैं तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियों के लिए निर्धारित सप्तवर्षीय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत योग्यतर प्रथम वर्ष के अध्ययन में संलग्न हो गई। लगभग साढ़े तीन वर्ष में योग्यतर और योग्यतम की चारों परीक्षाएं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इस अवधि में जो कुछ भी पढ़ा या लिखा, केवल परीक्षा के उद्देश्य से लिखा। अंतिम परीक्षा में निश्चित पाठ्यक्रम के साथ कम-से-कम सौ पृष्ठों का एक शोध-निबंध भी लिखना आवश्यक था। निबन्ध लिखने का विशेष अभ्यास न होने पर भी वह लिखा। जहां तक मुझे याद है, भगवान महावीर के साधनाकाल को विषय बनाकर निबन्ध लिखा था। परीक्षा सम्पन्न होने के बाद स्वतंत्र अध्ययन और लेखन का क्रम प्रारंभ हुआ। मैंने लिखना शुरू कर दिया, पर मेरा अध्ययन बहुत सीमित था। किसी भी विषय का प्रतिपादन मेरे लिए बहुत कठिन था। भाषा भी परिष्कृत नहीं थी। वक्तव्य देने में भय का अनुभव होता था, पर लिखना मुझे अच्छा लगता था। लिखने की गति भी तेज थी। अपनी सहपाठिनी साध्वियों में मैं लेखिका के रूप में उभरने लगी थी। इधर परमाराध्य गुरुदेव की भी प्रेरणा मिली। लिखने का अभ्यास बढ़ाने के लिए मैंने गुरुदेव के दैनिक प्रवचनों के नोट्स लेने शुरू किए। नोट्स के आधार पर कुछ प्रवचन लिखकर गुरुदेव को दिखाए। आज मैं उन प्रवचनों के बारे में सोचती हूँ तो मुझे अपने-आप पर हंसी आ जाती है। न अच्छी शब्द-संरचना, न भाषा-सौष्ठव और न विषय की व्यवस्थित प्रस्तुति। किन्तु गुरुदेव के विधायक दृष्टिकोण ने मेरा उत्साह बढ़ाया। जो कुछ जैसा भी लिखा गया था, उसमें गुरुदेव ने कुछ संशोधन सुझाए और लिखना चालू रखने का निर्देश दिया। लगभग सवा वर्ष तक मैंने लगातार प्रवचन लिखे। फिर कभी छोड़े और कभी लिखे। इससे मुझे दो लाभ हुए—

- लेखन के सम्बन्ध में आत्म-विश्वास जागा।
- पुस्तकें पढ़े बिना ही बहुत बातों की जानकारी मिली।

उन वर्षों में गुरुदेव के सान्निध्य में 'जैन दर्शन परिषद' का आयोजन होता था। उसमें जैन विद्वानों और साधु-साध्वियों के शोध-पत्र सुनने का मौका मिला। उसके साथ ही उसमें संभागिता के लिए भी गुरुदेव का निर्देश प्राप्त

हो गया। उन दिनों साधु-साध्वियों द्वारा समय-समय पर एषणा, अन्वेषणा आदि हस्तलिखित शोध-पत्रिकाएं भी निकाली थीं। उनके लिए भी कभी-कभी निबन्ध लिखने का प्रयास किया। गुरुदेव की दक्षिण यात्रा के प्रथम वर्ष में निबन्ध-लेखन की दृष्टि से एक विशेष प्रयोग किया गया। उस प्रयोग से जुड़े हुए साधु-साध्वियों से एक-एक विषय पर कुछ निबन्ध लिखवाए गए। निर्धारित समय पर गुरुदेव की सन्निधि में उनकी समीक्षा की गई। निबन्धों के प्रमुख समीक्षक थे मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञजी)। समीक्षा के आधार पर निबन्ध को कई बार लिखवाया जाता। मुझे भी उस प्रयोग में सम्मिलित होने का सौभाग्य मिला था। कुल मिलाकर अभ्यास की श्रृंखला में नई-नई कड़ियां जुड़ती गईं। उस समय मैंने जो निबन्ध लिखे, उनका एक ही उद्देश्य था लेखन के क्षेत्र में गति करना। उन निबन्धों को संकलित कर कभी पुस्तक का रूप दिया जाएगा, यह न तो कल्पना थी और न ऐसी कोई संभावना ही थी। इसलिए लिखने के बाद कुछ निबन्ध यों ही खो दिए। जो निबन्ध हस्तलिखित या मुद्रित पत्रिकाओं में आ गए, वे सुरक्षित रह गए। योगक्षेम वर्ष में साध्वी कल्पलताजी ने पत्र-पत्रिकाओं से उन निबन्धों का संग्रहण कर लिया। तब से उनकी भावना रही कि मैं एक बार उनको देख लूं। पर मेरे सामने अन्य करणीय काम आते रहे, फलतः उन्हें देखने के लिए समय नहीं मिल सका। इस वर्ष दिल्ली पहुंचते ही 'आदर्श साहित्य संघ' के प्रबन्धक भाई कमलेश चतुर्वेदी ने मेरे निबन्धों और वक्तव्यों की फाइलें मांगीं। साध्वी कल्पलताजी उन्हें देने के लिए तैयार थीं। मैंने उनको फाइलें देने का निषेध करते हुए कहा—'इन निबन्धों की भाषा ठीक नहीं है। इनमें परिवर्तन की अपेक्षा है। एक बार मुझे देखने दो। यह बात गुरुदेव के पास पहुंच गई। उन्होंने दिशादर्शन देते हुए कहा—'तब और अब की भाषा में अन्तर रहना स्वाभाविक है। वह रहना भी चाहिए। आवश्यक संशोधन किया जा सकता है। पर पूरा परिवर्तन कर दिया तो इतिहास की प्रामाणिकता नहीं रह पाएगी।' गुरुदेव के निर्देशानुसार परिवर्तन की बात मन से निकालकर मैंने साध्वी चित्रलेखाजी से कहा—'तुम एक बार इन निबन्धों को पढ़ लो। कहीं वर्तनी आदि की अशुद्धि हो तो पाण्डुलिपि को शुद्ध कर लो।'

साध्वी चित्रलेखाजी ने पाण्डुलिपि देखनी शुरू की। मूल प्रति के अभाव में यह काम बहुत श्रमसाध्य हो गया। निबन्धों में उद्धृत सन्दर्भ-स्थलों की प्रामाणिकता के लिए मूल ग्रन्थों को देखना जरूरी था। उन्होंने पूरे मनोयोग से अपना काम पूरा कर लिया, पर मुझे समय नहीं मिला। पाण्डुलिपि प्रेस में चली गई। प्रूफ आ गया। साध्वियों ने उसे देख लिया। अब उस कार्य को टालना असंभव हो गया। मैंने पूरी सामग्री को एक बार पढ़ा और कुछ स्थलों पर अपेक्षित संशोधन कर दिया तो मुझे अनुभव हुआ कि भाषाशैली और प्रतिपादनशैली को गौण कर दिया जाए तो इन निबन्धों में काफी कुछ पठनीय है। लेखन-यात्रा के प्रारंभ में मैंने आगम, उपनिषद या अन्य जो भी ग्रन्थ पढ़े, उनका अच्छा उपयोग किया गया है। प्रस्तुत संकलन के अधिकांश निबन्ध शोध-निबन्ध के नाम से लिखे गए थे, किन्तु आज उन्हें इस रूप में स्वीकृत करने की मानसिकता नहीं है, क्योंकि इनमें मेरी कोई निजी स्थापना नहीं है। ग्रन्थों में विकीर्ण तथ्यों को एक स्थान पर संयोजित करने का काम मैंने अवश्य किया है।

प्रस्तुत संकलन के नामकरण के प्रसंग में एक चिन्तन उभरा- इस संकलन में दो-तीन निबन्धों के अतिरिक्त शेष सारे निबन्ध अभ्यास-काल में लिखे हुए हैं। इस दृष्टि से इसका नाम-**करत-करत अभ्यास** रखना चाहिए। रहीम ने लिखा है-

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान॥

रसरी आवत-जावते, सिल पर परत निशान॥

अध्ययन की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में विशेष गति न होने पर भी अपनी रुचि और परमाराध्य गुरुदेव की प्रेरणा ने एक बन्द दिशा को खोला तो मेरे कदम अनायास ही बढ़ते चले गए। मंजिल अभी बहुत दूर है। उसके कुछ पड़ावों से पाठक पहले ही परिचित हो चुके हैं। साहित्यिक यात्रा का यह प्रथम पड़ाव नवलेखकों के मन में आत्मविश्वास का नया दीप प्रज्वलित करे और उनके भीतर छिपी हुई लेखन-क्षमता को जगाने में निमित्त बने, यही मेरी आकांक्षा है।

नई दिल्ली

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

1 दिसंबर, 1994

अनुक्रम

शुभाशंसा	3
पुरोवाक्	5
1. स्वभाव-परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक प्रयोग	11
2. जैनधर्म का व्यावहारिक दृष्टिकोण	22
3. नारी के प्रतिमानों में प्रतिबोध की भूमिका	35
4. आगमकालीन नारी	44
5. उपनिषदों पर श्रमण-संस्कृति का प्रभाव	58
6. व्याकरण के न्याय और हमारे व्यवहार	66
7. उत्तराध्ययन के समालोच्य शब्द	79
8. प्राकृत का मूल संस्कृत नहीं	86
9. संस्कृत साहित्य को आचार्यश्री तुलसी की देन	91
10. आगम के आलोक में कल्पवृक्ष	104
11. मेधावी शब्द की अर्थयात्रा	114
12. प्रमाण : एक तुलनात्मक अध्ययन	119
13. अनुमान और उसके प्रकार	131
14. आगम-साहित्य में कहानी व अकहानी	136
परिशिष्ट	
साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय	142
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य	146
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य	150

धर्म के चार द्वारों में एक द्वार है सहिष्णुता। धर्मासाधना या साधना का भाव विकसित होने से सहिष्णुता का विकास संभव है। सहिष्णुता के दो रूप हैं—शारीरिक कष्टों को सहना और अपने से भिन्न विचारों को सहना। शारीरिक कष्ट सहना कठिन है, पर विपरीत विचारों को सहना बहुत कठिन है। मनुष्य यंत्र नहीं है, जिससे सबके विचारों में एकता हो। इस दृष्टि से भिन्न विचारों, रुचियों और संस्कारों को भी सहना जरूरी है। अहिंसा में जिसका विश्वास हो, उसे सहिष्णुता भी सीखनी चाहिए। सहिष्णुता परस्परता का मूल मन्त्र है। असहिष्णु व्यक्ति केवल अपना ही अहित नहीं करता, समाज को भी उससे बहुत बड़ी हानि पहुंचती है। विवेक-जागृति और समता के विकास से असहिष्णुता के भाव मिट सकते हैं।

1. स्वभाव-परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक प्रयोग

हर मंजिल अनेक घुमावों को पार करने के बाद मिलती है। जिन्दगी के जिस घुमाव पर असावधानी होती है, वहां दुर्घटना घट जाती है। इसलिए हर मोड़ पर प्रकाशस्तम्भ की अपेक्षा रहती है। जो व्यक्ति प्रकाश होने पर भी आंख मूंद कर चलता है, वह भटक जाता है। सतत प्रयत्न करने पर भी वह मंजिल तक नहीं पहुंच सकता।

हमारे जीवन में जितने घुमाव हैं, उन घुमावों पर अपनी गति को मोड़ देनेवाला ईप्सित स्थान पर पहुंच जाता है। किन्तु यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने विचारों को महत्व न देकर परिवर्तन के नियम को समझे। यद्यपि हर मनुष्य का अपना स्वतंत्र चिन्तन होता है और उसके अनुसार ही वह अपने कार्यों को दिशा देता है। सफलता और असफलता के आधार पर भी किसी कार्य के प्रति आकर्षण एवं विकर्षण हो सकता है। मनुष्य के विचारों का एक प्रवाह होता है। विचार कोई स्थायी तत्त्व नहीं है, जिसे पकड़कर बैठा जाए। इस दृष्टि से विचारों में तो परिवर्तन होता ही है, समय-समय पर स्वभाव-परिवर्तन की बात भी हमारे सामने आती है।

स्वभावो दुरतिक्रमः के आधार पर कुछ व्यक्तियों की ऐसी धारणा बनी हुई है कि किसी भी स्थिति में स्वभाव बदल नहीं सकता। अग्नि का स्वभाव है उष्णता और पानी का स्वभाव है शीतलता। यदि इनमें परिवर्तन होने लगे तो कोई व्यवस्था ही नहीं रह सकती। अतः स्वभाव-परिवर्तन की बात युक्तिसंगत नहीं लगती।

किसी अपेक्षा से ये विचार सही हो सकते हैं। वास्तव में स्वभाव वही होता है, जो कभी बदलता नहीं। जिसमें परिवर्तन होता है, वह स्वभाव नहीं हो सकता। यहां जो स्वभाव शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह भी परभाव का सूचक

है। मनुष्य की कुछ आदतें ऐसी होती हैं जो उसे विकृति की दिशा में ले जाती हैं। उस स्थिति में साधारण आदमी उन आदतों को स्वभाव मान कर क्रिया करता रहता है। फलतः वे संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और दूसरे व्यक्ति को भी ऐसा आभास होने लगता है कि इस व्यक्ति का स्वभाव ही ऐसा है। उस पर-भाव को स्वभाव मानने से बहुत बड़ा अनिष्ट हो रहा है। इसीलिए मनीषी व्यक्तियों ने संसार को ऐसे तत्त्व दिए हैं, जिनके आधार पर स्वभाव-परिवर्तन का पथ प्रशस्त हो सकता है।

‘मनोविज्ञान’ ज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जिसके आधार पर व्यक्ति की मनःस्थिति का विश्लेषण किया जाता है। किन कारणों से कौन-सी बुराई पनपती है तथा उसका निवारण कैसे हो सकता है? इसके लिए प्रयोगात्मक पद्धति का विकास हुआ और एक-एक व्यक्ति पर प्रयोगशाला में परीक्षण किया गया। जो पद्धतियां सफल हुईं उनको प्रकाश में लाया गया। मनोविज्ञान के अध्येता इस तथ्य को अच्छी तरह जानते हैं। जैनदर्शन जिसे मनःपर्यव ज्ञान कहता है, उसी की पृष्ठभूमि मनोविज्ञान है। मनःपर्यव ज्ञान से समनस्क प्राणी के मानसिक विचार जाने जाते हैं और मनोविज्ञान अनुमान के द्वारा उन विचारों को पकड़ने का प्रयास करता है।

मनोविज्ञान का अर्थ है—मानसिक व्यापार का अध्ययन। उसका विषय है—भावों, आदतों और संस्कारों को बदलना एवं बनाना। मानसशास्त्र प्रत्यक्ष दीखनेवाली वस्तुओं का विवेचन नहीं करता। उसके नियम मन के व्यापार, व्यवहार और अनुभवों के आधार पर निश्चित किए गए हैं। इसे अनुभव-शास्त्र भी कहा जाता है। मनोविज्ञान पढ़ने का मतलब है आत्म-परिचय और आत्म-संयम। वस्तुतः आत्म-सत्ता स्वीकार किए बिना मनोविज्ञान अधूरा है।

एक मान्यता है कि मनुष्य का मन प्रारम्भ में स्वच्छ तख्ती के समान होता है। उस पर अच्छे-बुरे जैसे संस्कार पड़ते हैं, अंकित हो जाते हैं। बार-बार परावर्तन से वे इतने गहरे जम जाते हैं कि उनको मिटाना मुश्किल हो जाता है। वातावरण, शिक्षा, वंशानुक्रम का भी स्वभाव पर असर होता है। अच्छे वातावरण और स्वस्थ वंशानुक्रम में भी दूषित शिक्षा व्यक्ति के मन

को विकृत बना देती है। वंशपरम्परा भी संस्कारों के अर्जन में निमित्त बनती है। वातावरण तो किसी भी स्थिति में अपना असर छोड़े बिना नहीं रहता। इसलिए जहां वातावरण, वंशानुक्रम और शिक्षा विशुद्ध हो, वहां सामान्यतः पर-भाव, स्वभाव नहीं बन सकता। उसके परिवर्तन की अपेक्षा भी नहीं है। किन्तु जहां इन तीनों में एक तत्त्व भी गलत हो जाता है तो वह दूषित हवा की तरह गन्दगी फैला देता है।

स्वभाव दो प्रकार का होता है—जन्मजात और संस्कार-जनित। भौतिकवादी मनोवैज्ञानिकों ने आदत का आधार अभ्यास को माना है। उनका अभिमत है कि बार-बार अभ्यास करने से अच्छी या बुरी आदत पड़ जाती है। आधुनिक व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कार्यवाहक मस्तिष्क-तन्तुओं की सहायता से आदत बनती है। फ्रांस के तत्त्ववेत्ता बर्गसन आदत का आधार व्यक्ति की स्वेच्छा (इच्छा शक्ति) को मानते हैं। कई शिक्षा-शास्त्रियों का अभिमत रहा है कि बच्चे में किसी प्रकार की आदत नहीं डालनी चाहिए। आगे जाकर उसकी इच्छा-शक्ति जहां प्रबल होती है, वहां वैसी आदत स्वयं बन जाती है। फ्रांसीसी विद्वान रूसो के अनुसार एक अच्छी आदत अवश्य डालनी चाहिए, अन्यथा बुरी आदतें पड़ जाती हैं। **खाली मन शैतान का घर**—इस कहावत के अनुसार रूसो का सिद्धान्त उचित प्रतीत होता है। साधारणतः व्यक्ति जो भी क्रिया करता है, वह किसी आदत से प्रेरित होकर ही करता है। भय, भावुकता, लोभ, क्रोध, संशय, ईर्ष्या, चिन्ता आदि ऐसी ही आदतें हैं, जो व्यक्ति के मानसिक और आत्मिक विकास में अवरोध पैदा करती हैं। मनोविज्ञान सरल तरीकों से इनसे छुटकारा पाने का उपाय सुझाता है।

भय

भय एक ऐसा रोग है, जो मस्तिष्क के तन्तुओं में उतर जाता है। यद्यपि भय कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है, केवल मन की कल्पना है। फिर भी भयाक्रान्त होकर व्यक्ति चल नहीं सकता, बोल नहीं सकता। बहुत अधिक भय मृत्यु का भी कारण बन जाता है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि भय के कारण व्यक्ति अपने ही दरवाजे पर दस्तक दे रही खुशी को भी नहीं देख

सकता। प्रश्नव्याकरण सूत्र में इसका उल्लेख मिलता है—भीत मनुष्य भय के कारण लघुता को प्राप्त होता है, भीत मनुष्य संसार का पार नहीं पाता। जिसे अधिक भय लगता है, उस पर ही भूत आक्रमण करते हैं। स्वयं डरनेवाला दूसरों को भी डरा देता है, तप और संयम को छोड़ देता है, लिए हुए भार का निर्वहन नहीं कर सकता। इसलिए कभी डरना नहीं चाहिए।

भय को दूर करने का सबसे सरल उपाय यही है कि उसके आदि बिन्दु को पकड़ा जाए। जिस स्थान पर जिस समय जिस वस्तु से भय लगता है, क्या वह सही है? दूसरे व्यक्ति वहां जाते समय भय खाते हैं या नहीं? इस प्रकार के चिन्तन से भय दूर हो जाता है। दूसरा उपाय है आत्मविश्वास की प्रबलता। जिसका आत्मविश्वास दृढ़ होता है, वह किसी भी स्थिति से नहीं कतराता। पश्चिम के विश्वविख्यात विचारक इमर्सन ने लिखा है—‘जिस चीज से भय लगे उसका स्पर्श कर लो तथा जिस काम को करने से भय लगे उसी कार्य को शुरू कर दो, भय दूर हो जाएगा।’

भावुकता

जीवन के दो पक्ष हैं—विचार पक्ष और भाव पक्ष। पुरुष विचार-प्रधान होते हैं और स्त्री भावप्रधान। एक दृष्टि से भाव-प्रधानता अच्छी होती है। क्योंकि हर तथ्य या घटना को अपने ही विचारों की कसौटी पर कसनेवाला आग्रही हो सकता है। किन्तु जहां बुद्धि या तर्क को हाशिये में रखकर व्यक्ति एक प्रवाह में बहने लगता है, अतिशय भावुक हो उठता है, वहां ‘भावुकता’ नाम का मनोरोग हो जाता है। भावनाओं और चेष्टाओं पर नियंत्रण नहीं रख पानेवाला व्यक्ति ही भावुक बनता है। भावुक व्यक्ति की अनियंत्रित वृत्तियां उसे निर्मम, क्रूर और हिंसक बना देती हैं। जब-जब उन वृत्तियों का निरोध करने का प्रयत्न किया जाता है, वे उतना ही उग्र-रूप लेकर सामने आती हैं। भावुक व्यक्ति के मनोभावों का निरोध न कर उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगाना ही इस आदत से छुटकारा पाने का सीधा उपाय है।

लोभ

लोभ एक बहुत बड़ी मानसिक बीमारी है। अतिशय लोभ से रक्त की गति में अवरोध हो जाता है और पक्षाघात जैसी बीमारी की संभावना रहती

है। जो व्यक्ति लोभ के शिकार हो जाते हैं, वे केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। नैतिकता शब्द उनके मन से निकल जाता है। लोभ के कारण व्यक्ति हिंसा, असत्य, चोरी आदि दुर्गुणों के चक्रव्यूह में फंस जाता है। संतोष वृत्ति से इस रोग पर विजय पाई जा सकती है। लोभ का फलित है संग्रहभाव। जिसका संग्रह करने का स्वभाव हो जाए, वह वस्तु-संग्रह की भावना को गुण-संग्रह की दिशा में मोड़ दे। संग्रह वृत्ति नहीं छूटने पर भी इससे आत्मा का विकास बाधित नहीं होता। यह मार्गान्तरीकरण की प्रवृत्ति काफी सफल रही है।

क्रोध

वैज्ञानिक अनुसंधाताओं ने बताया है कि क्रोधावेश में रक्त के कण विषैले हो जाते हैं। एक स्त्री ने क्रोध में बच्चे को स्तनपान करवाया, परिणामस्वरूप बच्चा मर गया। क्रोध स्वयं की असफलता पर भी होता है और दूसरे की गलती पर भी। क्रोध को दबाने से व्यक्ति पागल हो सकता है। अतः विवेक और बुद्धि के द्वारा इसका शमन करना चाहिए। आंखें लाल हो जाना, होंठ फड़कना, अनर्गल बोलना आदि क्रोध के लक्षण हैं। क्रोध के समय स्वयं पर नियंत्रण पाना बहुत कठिन है। महात्मा गांधी और बुद्ध ने **अक्रोधेन जयेत् क्रोधं** के सिद्धान्त को अपनाया। महात्मा ईसा ने आततायियों के लिए प्रभु से क्षमा मांगी। क्योंकि उन पर गुस्सा करने से ईसा की आत्मा मलिन हो जाती। इसलिए जिन स्थितियों में क्रोध आता हो, उनसे निरपेक्ष हो जाना चाहिए। उस स्थान को बदल देना चाहिए। श्वास को रोकने से भी क्रोध का शमन हो सकता है। जिस समय क्रोध आए, उस समय एक गिलास पानी पीने से भी क्रोध का प्रभाव क्षीण हो सकता है।

संशय

कहा जाता है कि सन्देह एक भूत है। वह जिस पर सवार हो जाता है, उसे बुरी तरह से घेर लेता है। संशय का उद्भव अपने ही अपराधी मानस से होता है। मनुष्य सोचने लगता है कि अमुक व्यक्ति मेरे विषय में ऐसा सोचता है। अमुक व्यक्ति मेरे बारे में झूठी बातें कहता है। अमुक व्यक्ति मेरी गतिविधि को देखता रहता है। इस प्रकार की सोचवाला व्यक्ति न

तो सामनेवाले से पूछने का साहस करता है और न ही अपने विचारों का परिष्कार करता है। इस स्थिति में व्यक्ति की मानसिक स्थिति बहुत बिगड़ जाती है। साक्षात वार्तालाप करने से संशय का निवारण हो सकता है।

ईर्ष्या

ईर्ष्या एक ऐसा दुर्गुण है, जो व्यक्ति को भीतर-ही-भीतर खोखला कर देता है। दूसरों की अच्छी परिस्थितियों से जलन, परिचितों की सफलता पर घुटन, दूसरों द्वारा पहुंचाई गई हानि का स्मरण, अपनी उपेक्षा का चिंतन आदि ईर्ष्या के कारण बनते हैं। सामान्यतः ईर्ष्या अपने समवयस्कों, सहकर्मियों और पड़ोसियों के प्रति होती है। एक ही काम करने पर स्वयं विफल हो जाता है और साथी सफल हो तो उसके प्रति कुढ़न पैदा हो जाती है। मन में विविध प्रकार की कल्पनाएं होने लगती हैं। कल्पना जहां होती है, वहां तनाव भी अवश्य हो जाता है। इस रोग से बचने का सीधा उपाय है स्वदोष-दर्शन और परगुणदर्शन की प्रवृत्ति विकसित करना। ईर्ष्या वहीं पनपती है, जहां दूसरों के गुण सहन नहीं होते।

चिन्ता

चिकित्साविज्ञान के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि अनेक शारीरिक रोगों का मूल कारण चिन्ता है। जिसमें दमा, रक्त का दबाव, हृदय रोग, एक्जीमा, मधुमेह आदि प्रमुख हैं। अमरीकी नॉर्थ वेस्टर्न यूनिवर्सिटी के परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि निरन्तर चिन्ता करने से अनेक प्रकार की दांतों की बीमारियां पैदा होती हैं। प्रोफेसर लियोनार्ड फास्टिक का अभिमत है कि चिन्ता के कारण हमारे मुखस्राव के स्वाभाविक संचलन में रुकावट आती है, जो हमारे तेजाबी द्रव्यों को क्षार करती है और दांतों को जीर्ण बनाती है। चिन्ता से आंखों को भी भयानक हानि उठानी पड़ती है। यह भी कहा गया है कि चिन्ता करनेवालों के बाल समय से पहले ही सफेद हो जाते हैं या उड़ जाते हैं। न्यूयार्क एकेडमी ऑफ मेडिकल साइन्स के एक वैज्ञानिक ग्रुप ने यह खोज की है कि चिन्ता रक्त में रहस्यमय द्रव घोलती है, जो आन्तरिक अवयवों की सिकुड़न का कारण बनता है।

मैसाच्यूसेट्स के एक हॉस्पिटल ने प्रामाणिक रूप से घोषणा की है कि 'कालीटिस' के मरीजों में छियानवे प्रतिशत मरीज निरन्तर चिन्ता आदि मानसिक विकृतियों के ही शिकार होते हैं। अमेरिका के एक प्रमुख मेडिकल क्लिनिक के अनुसार पैंतीस प्रतिशत रोगी केवल चिन्ताजन्य रोगों से पीड़ित हैं।

चिन्ता का उद्भव तब होता है जब व्यक्ति सोचता अधिक है और करता कम है। आज से डेढ़ सौ से भी अधिक वर्ष पूर्व दार्शनिक गोथे ने कहा था—'परिणत नहीं होने वाला विचार रोग बन जाता है।' प्रसिद्ध डॉक्टर विलियम सेडलर ने कहा—'चिन्ता मानसिक विचारों की भग्नता का ही रूप है।' इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए डॉक्टर हेनरी ने लिखा है—'मस्तिष्क जब अपने ही व्यूह में वेग से चक्कर काटता है और शारीरिक अवयवों को पर्याप्त प्रेरणा देने में असमर्थ हो जाता है, उस समय चिन्ता के लक्षण प्रकट होते हैं।'

चिन्ता से छुटकारा पाने का सीधा उपाय है निष्क्रिय चिन्तन का बहिष्कार। जो भी चिन्तन आए, उसे क्रिया में परिणत कर दें, अन्यथा उन विचारों का मोह छोड़ दें। गंभीर बात को भी साधारण रूप से देखें।

दंभ

मनुष्य की क्रियाएं इच्छाओं से प्रेरित होती हैं। कहा भी है—**काम एव मनुष्याणां बाधको ब्रह्मबोधने**। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में बाधक है व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता। मनुष्य की इच्छाएं असीम हैं। वह अपनी आकांक्षाओं के विस्तार से संसार में सर्वोच्च बनकर रहना चाहता है। दंभ का एक कारण है अतिरिक्तता की भावना। अपने सामर्थ्य से बढ़कर जो प्रकाश में आना चाहता है, वहां उसकी दंभ प्रवृत्ति प्रबल बन जाती है। आगमों में **णो हीणे णो अइरित्ते** का सिद्धान्त है। उसका अभ्यास करने से दंभ पर विजय हो सकती है। कारलेविल को चित्रकार ने कहा—'वृद्धावस्था के कारण आपके चेहरे पर झुर्रियां पड़ गई हैं। आज्ञा हो तो चित्र में इनका संशोधन कर दूँ।' इस पर कारलेविल ने कहा—'मैं जैसा हूँ, वैसा ही दिखना चाहता हूँ, अतः मेरे फोटो में भी अतिरिक्तता न लाई जाए।' सुननेवाले स्तब्ध रह गए। लेकिन इस वृत्ति से उसके जीवन में दंभ को पनपने का अवकाश नहीं मिला।

असहिष्णुता

धर्म के चार द्वारों में एक द्वार है सहिष्णुता। धर्माराधना या साधना का भाव विकसित होने से सहिष्णुता का विकास संभव है। सहिष्णुता के दो रूप हैं—शारीरिक कष्टों को सहना और अपने से भिन्न विचारों को सहना। शारीरिक कष्ट सहना कठिन है, पर विपरीत विचारों को सहना बहुत कठिन है। मनुष्य यंत्र नहीं है, जिससे सबके विचारों में एकता हो। इस दृष्टि से भिन्न विचारों, रुचियों और संस्कारों को भी सहना जरूरी है। अहिंसा में जिसका विश्वास हो, उसे सहिष्णुता भी सीखनी चाहिए। सहिष्णुता परस्परता का मूल मन्त्र है। असहिष्णु व्यक्ति केवल अपना ही अहित नहीं करता, समाज को भी उससे बहुत बड़ी हानि पहुंचती है। विवेक-जागृति और समता के विकास से असहिष्णुता के भाव मिट सकते हैं।

इस प्रकार और भी न जाने ऐसे कितने स्वभाव हैं, जिनको बदलना अत्यन्त अपेक्षित है। हर व्यक्ति स्वयं अपने स्वभाव में परिवर्तन करे। इसके लिए मनोविज्ञान विशेषज्ञों ने चार सूत्र दिए—दमन, विलयन, मार्गान्तरिकरण और शोध।

दमन

जिस समय बुरे विचारों का उद्भव हो, बुरा कार्य करने के लिए उत्सुकता जागे, उसी समय उनको दबा देना चाहिए। क्योंकि विचार-शक्ति ही मनुष्य को अच्छा या बुरा बनाती है। बुरे विचार यदि दब जाते हैं तो व्यक्ति की अच्छी प्रवृत्तियों को प्रकाश में आने का अवसर मिल जाएगा। यह मनोवैज्ञानिकों का सुझाव है, किन्तु अध्यात्म इससे सहमत नहीं है। क्योंकि दमन किसी भी बुराई का स्थायी प्रतिकार नहीं है। जब कभी प्रतिकूल स्थितियां सामने आती हैं, दबे हुए विचार उभर जाते हैं। जैसे फोड़े की मवाद को बाहर न निकाल कर अन्दर ही सुखा दिया जाए तो वह दूसरा मार्ग खोजकर बाहर निकलती है। इसी प्रकार विचारों को दबाना भी बुराई का सम्यक प्रतिकार नहीं है।

विलयन

विलयन यानी उसके अस्तित्व को नष्ट कर देना। नदी में बाढ़ आने पर पानी के प्रवाह को यदि मरुस्थल की ओर मोड़ दिया जाए तो वहां की शुष्क भूमि में पानी विलीन हो जाएगा। इसी प्रकार विचारों के रुख को उस तरफ मोड़ दें जिससे अपसंस्कारित विचार अपना स्थान छोड़ दें और बुरी वृत्ति को पनपने का अवकाश न रहे।

मार्गान्तरीकरण

यह रास्ता बदलने का उपक्रम है। इसमें न तो व्यक्ति की वृत्तियों का सर्वथा शमन होता है और न वे मूल स्थिति में रहती हैं। बुरे स्वभाव को अच्छे स्वभाव में बदल देना इसका लक्ष्य है। किसी व्यक्ति की कामवासना तीव्रता पर हो, वह उससे मुक्त होना चाहता हो पर सहसा अपने लक्ष्य को नहीं साध पाता हो, उस स्थिति में वह अपनी वासना को संगीत में मोड़ देता है। इस प्रक्रिया से वह अपनी वासना के लिए एक नया मार्ग चुनता है और धीरे-धीरे सर्वथा विरक्त हो सकता है।

शोध

साधना के लिए सर्वोत्तम उपाय है शोध। मनुष्य की हर क्रिया संशोधित हो, ऐसी चाह प्रत्येक व्यक्ति के मन में रहती है। क्योंकि साध्य की प्राप्ति शोध से ही संभव है। कर्ममल को जला कर आत्मा जब संशोधित होती है तभी मुक्ति संभव है। जल के शोध का परिणाम है भाप। भाप की शक्ति से कितना काम हो सकता है, किसी से छिपा नहीं है। अतः हर साधक अपने स्वभाव को परिमार्जित करने के लिए शोध का पथ चुने, यह आवश्यक है। यदि एक साथ ऐसा न हो सके तो मार्गान्तरीकरण और विलयन से भी सफलता मिल सकती है।

स्वभाव-परिवर्तन के साथ नए सिरे से स्वभाव-निर्माण की भी अपेक्षा है। संवत् 2019 में आचार्यश्री तुलसी ने स्वभाव-निर्माण के कई सूत्र दिए। दैनिक व्यवहारों में व्यक्ति से जो भूलें होती हैं, उनमें जब तक संशोधन नहीं होता तब तक स्वस्थ स्वभाव का निर्माण नहीं हो सकता। इसीलिए

आचार्यप्रवर ने सुझाया कि छोटी-छोटी कमियों पर कुछ समय चिन्तन किया जाए, जैसे—

1. आवेश किया या नहीं ?
2. आग्रह किया या नहीं ?
3. सन्देह हुआ या नहीं ?
4. कलह हो जाने पर क्षमायाचना की या नहीं ?
5. अहिंसा या मैत्री का संकल्प किया या नहीं ?
6. अनुशासन की सम्यक आराधना की या नहीं ?
7. विनय या कर्तव्य-पालन में कोई त्रुटि हुई या नहीं ?
8. घृणा या तिरस्कार किया या नहीं ?

यह भी एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग है। किसी व्यक्ति को दूसरा यह बताए कि उसने आग्रह किया, गुस्सा किया तो उसे अखरने लगता है। वह सोचता है कि सभी तो ऐसा करते हैं, केवल उसे ही क्यों कहा जाता है ? लेकिन दर्पण हाथ में आने पर चेहरा स्पष्ट दिखाई देने लगता है। आत्म-चिन्तन के दर्पण में स्वभाव की प्रतिच्छाया पड़ती है। अपनी बुराई जान लेने पर सामान्यतः हर व्यक्ति उससे छुटकारा पाने का प्रयास करता है। अतः ऐसे प्रयोग भी स्वभाव-निर्माण की दिशा में सक्रिय कार्य कर सकते हैं। मनोविज्ञान ने यह बात भी सुझाई है कि जिस आदत को बदलना है, अव्यक्त मन में उसके प्रति अनास्था के भाव उत्पन्न किए जाएं। मन दो प्रकार का है—व्यक्त और अव्यक्त। दूसरे शब्दों में चेतन और अवचेतन। चेतन मन जब तक जागृत रहता है, अव्यक्त मन काम नहीं करता। जागृत अवस्था में मनुष्य की सब क्रियाएं व्यक्त मन से प्रेरित होती हैं। किन्तु जब व्यक्ति सो जाता है, तब उसका अवचेतन मन काम करता है।

उस समय वह अपनी बुराई को मिटाने का संकल्प करे। जैसे—‘इस कार्य से मेरा कोई हित नहीं, किन्तु बदनामी है। सब मुझे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए अब मैं इस कार्य को अवश्य छोड़ूंगा। इसे वापस कभी

नहीं दोहराऊंगा। इस अनुप्रेक्षा से व्यक्ति के अव्यक्त मन में ऐसे संस्कार दृढ़ हो जाते हैं कि उन संस्कारों का प्रभाव जागने के बाद भी बना रहता है। व्यक्ति स्वयं ऐसा न कर सके तो पास में रहनेवाले प्रेरणा दे सकते हैं।

किसी को ध्यान या तपस्या में रुचि पैदा करनी है तो अर्द्धनिद्रावस्था में ध्यानी और तपस्वी का चिन्तन करें। इस प्रकार मनोविज्ञान हमारे पथ को प्रशस्त कर मंजिल तक पहुंचाने के लिए प्रकाश-स्तम्भ बना हुआ है। यदि हम चाहें तो इन प्रयोगों से अपने जीवन को परिमार्जित करने में सफल हो सकते हैं।

2. जैनधर्म का व्यावहारिक दृष्टिकोण

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त विरोधी धर्मों के साथ सामंजस्य स्थापित कर चलते रहना ही जीवन की पूर्णता है। ज्ञेय अनन्त है। हमारे ज्ञान की सीमा है। सीमित ज्ञान से वस्तु के असीम धर्मों को जानने/समझने का एक साधन है अनेकान्त। एक साथ अनन्त धर्मों का ज्ञान व्यवहार्य नहीं हो पाता। व्यवहार का सीधा-सा मार्ग है नयवाद या स्याद्वाद। वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाले और अन्य अंशों का खण्डन नहीं करनेवाले ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है। उसके द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मों या अंशों का बोध करके समग्र वस्तु को जाना जा सकता है।

निश्चय और व्यवहार चिन्तन के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं। विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न रूपों में निश्चय और व्यवहार, दोनों की सत्ता को स्वीकार किया है। जैन दर्शन ने उसे निश्चय और व्यवहार की अभिधा से अभिहित किया। बौद्ध दार्शनिकों ने उसे परमार्थ सत्य तथा लोकसंवृति सत्य के रूप में प्रतिपादित किया। सांख्य दर्शन ने उसे परमब्रह्म तथा प्रपञ्च कहकर पुकारा।

निश्चय और व्यवहार परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी वे एक ही वस्तु में एक साथ पाए जा सकते हैं। इस दृष्टि से दोनों में अद्वैत है। निश्चय वस्तु का आत्मगत धर्म है। वह सूक्ष्म है। व्यवहार वस्तु का देहगत धर्म है। वह स्थूल है। इस स्वरूप-भिन्नता के कारण इन दोनों में द्वैत भी है। यद्यपि निश्चय निश्चय ही है और व्यवहार व्यवहार है। इनमें एकत्व नहीं हो सकता। निश्चय हमारा साध्य है। व्यवहार उसका साधन है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने निश्चय के साथ व्यवहार को तत्त्वरूप में स्वीकार किया है। यहां तक माना जा सकता है कि व्यवहार का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है।

निश्चय एक उन्नत गिरिश्रृंग है। व्यवहार वहां तक पहुंचने के लिए घुमावदार पगडण्डी है। पथिक उसके बिना सीधा पर्वतारोहण कर सके, यह संभव नहीं है। निश्चय फल का रस है और व्यवहार है उसकी उत्पत्ति, वृद्धि और संरक्षण में हेतुभूत ऊपर का छिलका। निश्चय को एक ट्रेन की उपमा दी जाए तो व्यवहार है ट्रेन के चलने में सहायक पटरी। साध्यावस्था में हम निश्चयमय बन जाते हैं, पर साधनाकाल में निश्चय और व्यवहार घुले-मिले रहते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य-प्राप्ति के बाद जीवन की पूर्णता में व्यवहार का कोई उपयोग नहीं है। किन्तु लक्ष्य को साधने के समय व्यवहार की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

व्यवहार का अर्थ छलना या प्रवंचना नहीं है। इसका अर्थ है यथार्थ को भी बुद्धि, विवेक तथा कला के साथ प्रस्तुत करना। व्यवहार जीवन का कलात्मक पक्ष है। दूसरे शब्दों में कलात्मक जीवन-पद्धति का नाम ही व्यवहार है। सत्य और शिव को जैसे सौन्दर्य की अपेक्षा है, वैसे ही यथार्थ भी व्यवहार के बिना अधूरा है। व्यक्ति जहां अकेला होता है, वहां व्यवहार की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। पर जहां समाज होता है, वहां परस्परता होती है। जहां परस्परता होती है, वहां व्यवहार अपेक्षित रहता है। व्यवहार-पक्ष की उपादेयता को अभिव्यक्त करते हुए कवि ने कितना सुन्दर लिखा है—

काव्यं करोतु परिजल्पतु संस्कृतं वा,
 सर्वाः कलाः समधिगच्छतु वा यथेच्छम्॥
 लोकस्थितिं यदि न वेत्ति यथानुरूपां,
 सर्वस्य मूर्खनिकरस्य स चक्रवर्ती॥

प्रकाण्ड पंडित भी यदि लोकव्यवहार से अनभिज्ञ है तो वह मूर्ख-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित होता है। यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्—इस उक्ति से लोक-व्यवहार को निश्चय से भी अधिक महत्व प्राप्त है। इसीलिए तो यह निर्देश दिया गया है कि जो कार्य अपनी दृष्टि से शुद्ध प्रतीत होता है, वह कार्य भी यदि लोक-विरुद्ध है तो उसका आचरण मत करो। व्यवहार-कुशल व्यक्ति जहां पग-पग पर अप्रत्याशित सफलता प्राप्त करता है, वहां व्यवहार से अनभिज्ञ रहनेवाले व्यक्ति को कदम-कदम

पर असफलता का मुंह देखना पड़ता है। विद्वान लेखक की यह पंक्ति कितनी मार्मिक है—जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है अव्यावहारिक होना। वाचक उमास्वाति ने इसी बात को 'प्रशमरतिप्रकरणम्' में प्रस्तुति देते हुए लिखा है—

**लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्॥
तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम्॥**

निश्चय अदृश्य होता है, वह व्यवहार द्वारा गम्य होता है। किसी के साथ कितनी ही सद्भावना क्यों न हो, पर जब तक वह व्यवहार में नहीं उतरती, तब तक उसकी सचाई में विश्वास कम ही होता है। व्यवहार की उपादेयता को दृष्टिगत रखते हुए भगवान महावीर ने साधक के लिए स्थान-स्थान पर उसकी उपयोगिता बताई है। भगवान महावीर ने साधक के लिए दो साधनाक्रम प्रस्तुत किए-जिनकल्प तथा स्थविरकल्प। जिनकल्पी सहाय-निरपेक्ष होकर एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी साधना विशिष्ट कोटि की होती है। अतः वे व्यवहारातीत होते हैं।

भगवान महावीर ने साधना के क्षेत्र में व्यवहार को कितना महत्व दिया है, यह जानने के लिए पूर्वो से निर्युद्ध एक आगम 'दशवैकालिक' की छोटी-सी यात्रा की जा रही है। भगवान महावीर ने ऐसे अनेक विधिनिषेधों के संकेत दिए हैं, जिनमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्थूल दृष्टि से हिंसा आदि से बचने का ही दृष्टिकोण रहा है। पर कहीं ऐसे विधान और निषेध हैं, जहां हिंसा आदि से बचने की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण अधिक प्रबल रहा है। कहीं ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं, जहां हिंसा आदि की किंचित भी संभावना नहीं है, फिर भी वे कार्य निषिद्ध हैं।

साधुत्व स्वीकरण के बाद साधक की दिनचर्या का एक महत्वपूर्ण कार्य है—भिक्षाचर्या। भिक्षा के बिना उसे कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। इसीलिए भगवान ने कहा है—**सर्व्वंसे जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं**—साधु के लिए सब कुछ याचित होता है, अयाचित कुछ भी नहीं। इसीलिए भगवान महावीर ने भिक्षा-विधि का सुन्दर विश्लेषण किया। कार्य का जितना महत्व नहीं होता, उतना विधि का होता है। प्रत्येक क्रिया के पीछे क्यों, कब, कैसे आदि प्रश्न जुड़े रहते हैं। इन प्रश्नों को उत्तरित करनेवाली कार्य-पद्धति ही

व्यावहारिक दृष्टि से प्रशस्त हो सकती है। मुनि भिक्षा के लिए कब जाए? इसका सुन्दर समाधान देते हुए भगवान ने कहा—**काले कालं समायरे**—जिस क्षेत्र में भिक्षा-प्राप्ति के लिए जो समय अनुकूल हो, उस समय मुनि भिक्षा के लिए जाए। काल का अतिक्रमण कर भिक्षार्थ जानेवाला भिक्षु निन्दा, तिरस्कार एवं अविश्वास का पात्र बन सकता है।

भिक्षार्थ जाता हुआ मुनि असंभ्रान्त रहे। क्योंकि संभ्रान्त अवस्था में मुनि शीघ्रता से चलता है। शीघ्रता के कारण ईर्या-समिति का पालन नहीं होता। चैतसिक विक्षिप्तता के कारण उचित-अनुचित का प्रश्न गौण हो जाता है। इन्हीं दोषों को ध्यान में रखते हुए भिक्षार्थ जाते समय साधु को असंभ्रान्त रहने का निर्देश दिया है।

भिक्षा के लिए प्रस्थित मुनि मन्द-मन्द गति से चले। यद्यपि साधु के लिए यतनापूर्वक शीघ्र गति अविहित नहीं है। इसके बावजूद भिक्षा के लिए जाते समय बहुत तेज चलना व्यवहार में अच्छा नहीं लगता। शीघ्रगामी साधु को देखकर दूसरे व्यक्ति उसके बारे में गलत अनुमान लगा सकते हैं। जैसे यह भिक्षु इसलिए जल्दी चल रहा है कि अमुक बस्ती में अमुक भिक्षुक पहले न चला जाए या अमुक वस्तु की प्राप्ति से वह वंचित न रह जाए। यह भी बताया गया है कि साधु दबदब करता न चले। इससे प्रवचन की लघुता होती है।

गोचरी के लिए गया हुआ मुनि मार्ग में आलोक-झरोखा या खिड़की, थिंगल-घर का वह द्वार जो किसी कारणवश पुनः चिना गया हो, द्वार, संधि, दो घरों के बीच की गली या दीवार की ढंकी हुई सुराख और जलमंचिका की तरफ न देखे। ये शंका-स्थान हैं, इसलिए मुनि इनसे बचता रहे। इन्हें इस प्रकार देखने से लोगों को मुनि पर चोर तथा पारदारिक होने का संदेह हो सकता है।

मुनि राजा, गृहपति-श्रेष्ठी, अन्तःपुर और आरक्षकों के उन स्थानों में न जाए, जहां जाने से उन्हें संक्लेश उत्पन्न हो।¹ इन स्थानों में जाने से साधु

1. दसवेआलियं 5/1/15

के प्रति स्त्रियों के अपहरण करने तथा मन्त्रभेद होने का सन्देह हो सकता है। सन्देहवश साधु को गिरफ्तार किया जा सकता है। अन्य भी अनेक प्रकार के कष्ट पहुंचाए जा सकते हैं। जिससे व्यर्थ ही साधु को अवहेलना का पात्र बनना पड़ता है।

मुनि प्रतिक्रुष्ट कुलों में भिक्षा के लिए न जाए। प्रतिक्रुष्ट का शाब्दिक अर्थ है—निन्दित, जुगुप्सित तथा गर्हित। व्याख्याकारों के अनुसार प्रतिक्रुष्ट दो तरह के होते हैं—अल्पकालिक और यावत्कालिक। अल्पकालिक—मृतक, सूतक आदि के घर, डोम-मातंग आदि के घर यावत्कालिक—सर्वदा प्रतिक्रुष्ट हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में एक बात ज्ञातव्य है कि प्रतिक्रुष्ट कुलों में भिक्षा के लिए जाने का निषेध व्यावहारिक भूमिका को ही छूनेवाला है। उपरोक्त कुलों में भिक्षा करने से साधक की साधना में कोई बाधा नहीं आ सकती है। फिर भी इस प्रसंग की चर्चा को समाहित करते हुए टीकाकार लिखते हैं—जुगुप्सित कुलों की भिक्षा लेने से जैनशासन की लघुता होती है। जैन-दर्शन का अध्येता इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि वह जातिवाद को तात्त्विक नहीं मानता। उसके आधार पर किसी को हीन तथा जुगुप्सित मानना हिंसा है। फिर भी प्रतिक्रुष्ट कुलों की भिक्षा का निषेध किया गया है। जहां तक मैं समझ पाई हूं, वैदिक परम्परा के बढ़ते हुए प्रभाव को ध्यान में रखकर ही इसका निषेध किया गया है।

भिक्षु अनासक्त दृष्टि से देखे। यह सामान्य कथन है। इसका वाच्यार्थ यह है कि साधु एवं साध्वी क्रमशः बहन तथा भाई की दृष्टि में दृष्टि गड़ाकर न देखे। इस निषेध के दो कारण बताए गए हैं। पहला कारण साधना-सापेक्ष है। आसक्त दृष्टि से देखने पर ब्रह्मचर्य क्षतिग्रस्त होता है। दूसरा कारण व्यवहार से संबंधित है। हृदय शुद्ध होने पर भी इस प्रकार देखने से लोग आक्षेप कर सकते हैं कि यह मुनि विकार ग्रस्त है। भिक्षा ग्रहण करते समय भिक्षु अपनी दृष्टि संयत रखे। अति दूरस्थ वस्तुओं को न देखे। इस प्रकार देखने से मुनि के चोर या पारदारिक होने की आशंका हो सकती है। भिक्षार्थ

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट मुनि विकसित नेत्रों से न देखें।¹ इससे मुनि की लघुता होती है।

आहार आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने के बाद मुनि अन्दर कहां तक जाए? इसका संकेत देते हुए भगवान महावीर ने कहा—मुनि अतिभूमि में न जाए।

कुलभूमि को जानकर मितभूमि में प्रवेश करे। गृहस्वामी के द्वारा वर्जित या अननुज्ञात भूमि अतिभूमि है। गृहस्थ के द्वारा अवर्जित भूमि मितभूमि है। मुनि के लिए स्नान-गृह तथा शौच-गृह देखने का भी निषेध किया है।²

भिक्षा में यदि अमनोज्ञ और अपथ्य जल आ जाए तो मुनि उसे गृहस्थों की भांति इधर-उधर न फेंके। किन्तु उसे लेकर वह विजनभूमि में जाए और वहां शुद्ध भूमि पर धीरे से गिराए ताकि गंदगी न फैले। इस निर्देश में सभ्यता एवं शिष्टता की झलक परिलक्षित होती है। गृहस्थ समाज भी इस निर्देश का पालन करे तो गलियों में गंदगी से होनेवाले प्रदूषण से बचा जा सकता है।

भिक्षाचरी की परिसम्पन्नता के बाद भोजनविधि के बारे में बताते हुए कहा गया है कि सामान्यतः भिक्षु गोचराग्र से वापस आकर आहार उपाश्रय में ही ग्रहण करे। यदि वह भिक्षार्थ दूसरे गांव में गया हुआ हो और कारणवश वहीं आहार करना पड़े तो वहां पर स्थित साधुओं के पास जाकर आहार करे। यदि अन्यत्र भोजन करना पड़े तो जहां-कहीं भिखारियों की तरह बैठकर न खाए, किन्तु कोष्ठक या भित्तिमूल को देखकर विधिपूर्वक खाए।

आहार में ग्रास के साथ कंकड़, कंटक आदि आ जाएं तो उन्हें सीधा मुंह से न थूके, किन्तु आसन से उठकर कंकड़ आदि को हाथ में लेकर एकान्त स्थान में धीरे से रखे।³

उपाश्रय में आकर आहार करनेवाले मुनि के लिए भी अत्यन्त आकर्षक एवं मनोज्ञ विधि बतलाई गई है। मुनि उपाश्रय में प्रविष्ट होते ही 'पाद-

1. दसवेआलियं 5/1/23

2. दस. 5/1/24

3. वही 5/1/84-86

प्रमार्जन करे और 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करे। यह मुनि के कार्यनिवृत्त हो स्थान में प्रवेश करने का सूचक है।

मुनि उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो 'इर्यापथिकी' सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे। भिक्षा के लिए आने-जाने तथा आहार-पानी ग्रहण करने में कोई दोष लगा हो तो तथा जिस क्रम से जहां से भिक्षा ग्रहण की हो, गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करे। वह भी गुरु की अनुज्ञा प्राप्त करके ही करे।

आहार-विधि की अपेक्षा से मुनि दो प्रकार के बताए गए हैं—मंडली के साथ आहार करनेवाले और एकाकी आहार करनेवाला। मंडलीभोजी मुनि जब तक मंडली के सब मुनि न आ जाएं, तब तक स्वाध्याय करें। आहार लेकर मैं आया हूं, इस आहार पर मेरा ही अधिकार है, ऐसा सोचकर अकेला ही खाने के लिए न बैठ जाए। एकाकी आहार करनेवाला मुनि भी भिक्षा लाकर कुछ समय विश्राम करे। विश्राम के समय में स्थिरता से चिन्तन करे। फिर आचार्य से निवेदन करे—'भगवन्! इस आहार से यथेच्छ आहार आप स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें! यदि आचार्य न लें तो वह निवेदन करे—'भन्ते! यह भोजन आप अतिथि, ग्लान, शैक्ष, तपस्वी, बाल तथा वृद्ध इनमें से किसी को देना चाहें तो दें' मुनि की प्रार्थना स्वीकार कर यदि आचार्य अतिथि आदि को दें तो प्रसन्नमना वह साधु अवशिष्ट आहार को आचार्य की अनुज्ञा प्राप्त कर स्वयं खाले। यदि आचार्य कहें—'तुम ही साधर्मिकों को निमंत्रित करो। उन्हें अपेक्षा हो तो दे दो।' तब वह स्वयं मुनिजनों को सादर निमंत्रित करे। वे यदि निमन्त्रण स्वीकार कर लें तो उनके साथ भोजन करे। यदि वे निमन्त्रण स्वीकार न करें तो अकेला ही भोजन कर ले।

काले कालं समायरे—इस सूक्त के अनुसार चलने से मुनि की दिनचर्या सुन्दर तथा आकर्षक बन सकती है। यह एक सुन्दर व्यवस्था है। व्यवस्था से सौन्दर्य निखरता है। यदि प्रत्येक कार्य के लिए समय निर्धारित हो जाए और ठीक समय पर वह सम्पादित किया जाए तो कभी दौड़-धूप नहीं करनी पड़ती। इससे सारे कार्य आसानी से सध सकते हैं। समय का सही उपयोग

हो सकता है और किसी भी कार्य के लिए जल्दबाजी नहीं करनी पड़ती। इससे स्नायुओं का तनाव नहीं बढ़ता और अस्वास्थ्य भी नहीं बढ़ता।

समय की नियमितता के अभाव में जल्दबाजी करनी पड़ती है, जल्दबाजी से स्नायविक तनाव बढ़ता है और शारीरिक रोग भी हो जाते हैं। इससे सारी व्यवस्थाएं गड़बड़ा जाती हैं। महात्मा गांधी ने लिखा है—‘कार्य की अधिकता व्यक्ति को नहीं मारती, किन्तु समय की अव्यवस्था उसे बुरी तरह मार डालती है।’ कार्य की व्यवस्था जहां साधक की चित्त-विक्षिप्तता को रोककर मन को स्थिरता प्रदान करती है, वहां बाह्य व्यवहार को भी सुघड़ बना देती है।

प्रस्तुत आलेख में मुख्य रूप से भिक्षा के सन्दर्भ में समय प्रबन्धन की चर्चा की गई है, इसलिए स्थूल रूप से यही आभासित होता है कि भिक्षा के समय भिक्षा करनी चाहिए। लेकिन ‘काले कालं समायरे’। यह पद अपने-आप में इतना गूढार्थ छिपाए हुए है कि मुनि की प्रत्येक क्रिया के लिए यथाकाल सम्पादन करने का संकेत देता है। सूत्रकृतांग के चूर्णिकार भी इसी का अनुमोदन करते हुए लिखते हैं कि मुनि भिक्षा के समय भिक्षा करे खाने के समय खाए। पीने के समय पीए। वस्त्रकाल में वस्त्र ग्रहण करे। लयनकाल में (गुफादि में रहने के समय अर्थात् वर्षाकाल में) लयन में निवास करे। सोने के समय सोए। समय की नियमितता का महत्त्व निश्चय दृष्टि से भी है। क्योंकि उसके व्यतिक्रम से चित्तविक्षेप होता है और मानसिक समाधि में विघ्न होता है। भिक्षार्थ गया हुआ मुनि गृहस्थ के घर में न बैठे और न ही वहां कथा- प्रबन्ध करें। भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे, उतने समय तक उसे वहां खड़ा रहना पड़ता है। साधक वहां कैसे खड़ा रहे? इसका विवेक भी भगवान महावीर ने दिया है—मुनि अर्गला, परिघा, द्वार, कपाट आदि का सहारा लेकर खड़ा न रहे। इससे मुनि की लघुता लगती है और कहीं गिर पड़ने से चोट लगने का भी भय रहता है।¹

1. दस. 5/2/8,9

भिक्षा के लिए मुनि गृहस्थ के घर जाता है, उस समय द्वार पर यदि कोई श्रमण, ब्राह्मण, कृपण तथा वनीपक खड़े हों तो उनको लांघकर अन्दर प्रवेश न करे और न गृहस्वामी तथा श्रमण आदि की आंखों के सामने खड़ा रहे वनीपक आदि को लांघ कर अन्दर प्रवेश करने से गृहपति तथा वनीपक आदि को साधुओं से अप्रीति हो सकती है अथवा जैन-शासन की लघुता प्रदर्शित होती है।¹

गृहस्वामी द्वारा निषेध कर देने पर अथवा दान दे देने पर जब अन्य भिक्षाजीवी लौट जाएं तब मुनि उस घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हो।²

मुनि सामुदानिक भिक्षा करे। वह उच्च-नीच कुलों का भेदभाव न रखते हुए सब घरों से भिक्षा ले। यह न हो कि वह सामुदानिक भिक्षा के क्रम में छोटे घरों को छोड़कर केवल बड़े-बड़े घरों की ही भिक्षा कर ले।³ ऐसा करने से जातिवाद को बढ़ावा मिल सकता है। साधारण व्यक्ति सोचते हैं कि मुनिजी भी उनकी भिक्षा न लेकर उनका तिरस्कार कर रहे हैं।

प्रयोजनवश गृहस्थ के घर जाए तो मुनि उचित स्थान पर खड़ा रहे। बोलना आवश्यक हो तो सीमित बोले तथा रूप में मन न लगाए।⁴

साधु अनेक कुलों में जाता है। अनेक व्यक्तियों से सम्पर्क साधता है। कानों को अनेक बातें सुनने को मिलती हैं। आंखों को अनेक दृश्य देखने को मिलते हैं। किन्तु साधक के लिए दृष्ट तथा श्रुत सभी बातें कहनी उचित नहीं है।⁵ यह विचारधारा अहिंसा की सबल भित्ति पर तो सुस्थिर है ही, इस नीति से संघीय तथा सामाजिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध भी मधुर बने रहते हैं।

मुमुक्षु मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करे। क्योंकि क्रोध प्रीति का, अभिमान विनय का, माया मैत्री का तथा लोभ सब हितों

1. दस. 5/2/10-12

2. वही 5/2/13

3. वही 5/2/25

4. वही 8/19

5. वही 8/20

का नाश करने वाला है।¹ जिस श्रमणधर्म के द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के बाद सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए मुनि बहुश्रुत साधुओं की पर्युपासना करे और अर्थविनिश्चय के लिए प्रश्न करे।²

उपासना के समय गुरु के पास कैसे बैठे, इसकी विधि बताते हुए लिखा है—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर तथा शरीर को संयत रखे अर्थात् हाथों को न नचाए, पैरों को न फैलाए और शरीर को आलस्यवश न मोड़े। गुरु के पास आलीन-गुप्त होकर बैठे।³ आलीन-थोड़ा लीन। तात्पर्य की भाषा में जो गुरु के पास न अति निकट और न अति दूर बैठे वह आलीन कहलाता है। गुरु के वचन सुनने में दत्तावधान तथा प्रयोजनवश सीमित वाणी व्यवहार करनेवाला गुप्त कहलाता है।

शिष्य को गुरु के समीप बैठने की भी विधि बताई है—शिष्य गुरु के पार्श्व-भाग में आसन्न न बैठे, बराबर न बैठे, आगे न बैठे, पीछे न बैठे तथा उनके घुटने से घुटने सटाकर न बैठे।⁴

पार्श्व-भाग के निकट बराबर बैठने से शिष्य द्वारा समुच्चारित शब्द सीधे गुरु के कान में जाते हैं। जिससे गुरु की एकाग्रता भंग हो सकती है। गुरु के आगे अत्यन्त निकट बैठने से अविनय होता है तथा दर्शनार्थियों के गुरु-दर्शन में बाधा पहुंचती है। पीछे बैठने के निषेध का एक कारण यह भी हो सकता है कि पीछे बैठने से शिष्य गुरु के इंगित-आकार को समझ नहीं पाता। गुरु के घुटनों से घुटना सटाकर बैठने से भी विनय का अतिक्रमण होता है, अशिष्टता द्योतित होती है। सारांश की भाषा में मुनि किसी भी स्थिति में असभ्य और अशिष्ट तरीके से गुरु के पास नहीं बैठे।

मुनि बिना प्रयोजन बिना पूछे बीच में न बोले। दो व्यक्ति परस्पर बात कर रहे हों अथवा गुरु किसी के साथ बात करें, उस समय यह कार्य ऐसे

1. दस. 8/36,37

2. वही 8/43

3. वही 8/44

4. वही 8/45

नहीं, बल्कि ऐसे हुआ, इस प्रकार बीच में न बोले। चुगली न खाए। परोक्ष में किसी का दोष न कहे और कपटपूर्ण असत्य का वर्जन करे।¹

आचारांग और प्रज्ञप्ति-भगवती को धारण करनेवाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला मुनि यदि बोलने में स्खलित हुआ है, उसने वचन, लिंग और वर्ण आदि का विपर्यास किया है तो भी मुनि उसका उपहास न करे।²

धर्म का मूल है विनय और उसका अन्तिम फल है मोक्ष। जैन आगमों में विनय का प्रयोग आचार एवं उसकी विविध धाराओं के अर्थ में हुआ है। नम्रता उस व्यापक विनय-सरिता की एक धारा है। उसका सातवां प्रकार है उपचार विनय। यद्यपि विनय का सीधा सम्बन्ध अपनी आत्मा से है। विनय अपना ही होता है, अन्य का नहीं। नम्रता आत्मा का सहज गुण है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने उपचार विनय, व्यवहार विनय को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

गुरु तथा रत्नाधिक मुनियों के आगमन पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, भक्ति एवं शुश्रूषा करना उपचार-विनय है। उपचार-विनय आचार-विनय की पृष्ठभूमि है। उत्तराध्ययन में इसका सुन्दर दिग्दर्शन मिलता है—

अब्भुट्टाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।

गुरुभक्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ।।³

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण विविध आहुति और मन्त्रपदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्त ज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे।⁴ ज्ञान और आचार की आराधना करनेवाला मुनि आचार्य के आदेश का लंघन न करे।

1. दस. 8/46

2. वही 8/49

3. उत्तरज्झयणाणि 30/32

4. दस. 9/1/11

जिससे धर्मपदों की शिक्षा ग्रहण करे, उसके प्रति शिक्षार्थी मुनि विनय का प्रयोग करे। उसे बद्धांजलि तथा नतमस्तक हो वन्दन करे। वह मन, वाणी तथा काया से सदा उसका विनय करे।¹

शिष्य आचार्य की शय्या (बिछौना) से अपनी शय्या नीचे स्थान में करे। गति भी नीची रखे अर्थात् आचार्य के आगे-आगे न चले, पीछे चले। चूर्णिकार लिखते हैं—शिष्य गुरु के अति समीप तथा अति दूर न चले। अति समीप चलने से रजकरण उड़ते हैं। इससे गुरु की आशातना होती है। अति दूर चलने से प्रत्यनीकता का आभास होता है। आचार्य जहां खड़े हों, शिष्य उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे। चूर्णिकार के अनुसार नीचे स्थान में भी गुरु के आगे तथा बराबर खड़ा न रहे। अपना आसन भी गुरु के आसन से नीचे बिछाए।

भिक्षु आचार्य से नीची शय्या करे, नीची गति करे, नीचे खड़ा रहे, नीचा आसन करे, नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे और नीचा होकर अंजलि करे—हाथ जोड़े।²

आचार्य के निश्चित उपकरणों से यदि शिष्य का अनुचित स्पर्श हो जाए, उनके पैर लग जाए, ठोकर लग जाए तो वह बद्धांजलि और नत मस्तक हो निवेदन करे कि भगवन! मेरे अपराध के लिए क्षमा करें। भविष्य में मैं ऐसा अपराध न करने का संकल्प करता हूँ।³

पूज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—**आलोइयं इंगियमेव नच्चा जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो**। विनीत शिष्य गुरु द्वारा निर्दिष्ट कार्य करता ही है, पर इसी में उसके कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती। वह गुरु के निरीक्षण तथा इंगित को देखकर उनके अभिप्राय को समझ लेता है और कार्य-सम्पादन में जुट जाता है।

1. दस. 9/1/12

2. वही 9/2/17

3. वही 9/2/18

आलोचित से कर्तव्य बोध : जैसे सदी के समय में आचार्य वस्त्र की ओर देखते हैं तो विनीत शिष्य समझ लेता है कि आचार्यवर शीत से बाधित हैं, उन्हें वस्त्र की अपेक्षा है और वह उठ कर वस्त्र गुरु को दे देता है।

इंगित से कर्तव्यबोध : जैसे—आचार्य के कफ का प्रकोप है, दवा की आवश्यकता है। पर उन्होंने किसी को कुछ कहा नहीं, फिर भी विनीत शिष्य गुरु के मनोभावों को व्यक्त करनेवाली अंगचेष्टा से समझ लेता है और उनके लिए सौंठ ले आता है। दशवैकालिक सूत्र में ऐसी और भी अनेक शिक्षाएं उपलब्ध हैं, जो सामूहिक जीवन-व्यवहार को सजाती-संवारती हैं तथा उसमें रस भरती हैं। यह तो हम पहले ही जान चुके हैं कि जीवन की अपूर्ण अवस्था में या साधना काल में निश्चय तथा व्यवहार परस्पर जुड़े हुए रहते हैं। इनमें इतना गहरा संबंध है कि एक-दूसरे को अलग करना संभव नहीं है। निश्चय यदि शुद्ध आत्मतत्त्व है तो व्यवहार देह है। क्या संसारी आत्मा कभी देहमुक्त होकर रह सकती है? क्या शरीर कभी आत्मा से रहित होकर टिक सकता है? व्यवहारशून्य निश्चय सामूहिक जीवन की दृष्टि से अनुपयोगी एवं अव्यवहार्य है और निश्चयविहीन व्यवहार प्रवञ्चना है। महावीर-वाणी का मूलभूत आधार है निश्चय। पर व्यवहार-जगत में भी वह हमारी मार्गदर्शिका है। प्रस्तुत निबन्ध में उसकी नैश्चयिक दृष्टि को गौण रखकर उसके व्यवहार पक्ष को उजागर किया गया है। महावीर का व्यावहारिक दृष्टिकोण साधु-संस्थाओं के लिए ही नहीं, पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी बहुत उपयोगी हो सकता है। काश! मनुष्य उसे समझकर आत्मसात कर पाता।

3. नारी के प्रतिमानों में प्रतिबोध की भूमिका

परिवार एक पाठशाला है। वहां छोटे-बड़े हर व्यक्ति को बोधपाठ मिलता है। वह बोधपाठ न पुस्तकों से मिल पाता है और न उपदेश से। वह मिलता है जीवन से। उसे पढ़ाने के लिए कोई डिग्रीधारी शिक्षक नहीं आता। परिवार का प्रत्येक सदस्य शिक्षक होता है। शिक्षा देने का उपक्रम संवादशैली में चलता है। इस शैली का जितना उपयोग परिवार में होता है, किसी भी शिक्षा-संस्थान में नहीं होता। वहां साइन्स, गणित, समाजशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि की शिक्षा भले ही न मिले, मनोविज्ञान और व्यवहारविज्ञान अच्छे ढंग से पढ़ाए जाते हैं। इनके साथ वे सब विषय पढ़ाए जाते हैं, जो मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते हैं। उनमें सहयोग, सामंजस्य, सेवा, सहिष्णुता, सौहार्द आदि प्रमुख हैं। ये तत्त्व ऐसे हैं, जो सामूहिक जीवन की स्वस्थता के आधार हैं। पारिवारिक जीवन में समूह की आकांक्षाओं को ध्यान में रखना जरूरी है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति की रुचि, इच्छा और आवश्यकता को गौण कर दिया जाए। इन्हें छोड़कर जीने से व्यक्तित्व के कुंठित होने की संभावना बनी रहती है। परिवार की आकांक्षा और आवश्यकता की पूर्ति में व्यक्ति की अपनी रुचि का हनन न हो तो वह आकांक्षा और आवश्यकता उसकी निजी बन जाती है। एक परिवार के साथ जुड़कर जीनेवाले अनेक व्यक्तियों का यह तादात्म्य ही परिवार नाम की संस्था को जीवित रख सकता है।

परिवार और नारी

परिवार का एक महत्वपूर्ण घटक है नारी। प्रत्येक नारी अपने परिवार के लिए आलम्बन होती है। नारी के साथ परिवार की कल्पना सतरंगी हो उठती है। नारी के बिना परिवार की कल्पना ही अधूरी रहती है। इसी अवधारणा के

आधार पर संभवतः लिखा गया है—न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। चूने, पत्थर, सीमेण्ट और ईंटों से बना हुआ घर ही घर नहीं है। घर को व्यवस्थित रखनेवाली नारी ही सही अर्थ में घर है। वह है तो घर सब कुछ है। अन्यथा घर की जो स्थिति होती है, वह किसी पुरुष से अज्ञात नहीं है। इस स्थिति का अनुभव वे लोग करते हैं, जिनकी पत्नी थोड़े समय के लिए घर की जिम्मेदारी उन पर छोड़कर पीहर चली जाती है अथवा काल के क्रूर आघात से छल ली जाती है।

नारी के अनेक रूप हैं। वह माता, पत्नी, बहन, बेटा, नानी, दादी, बुआ, मौसी आदि न जाने कितने रिश्तों के रेशमी धागों से बंधी हुई है। एक समय था, जब उसका व्यक्तित्व घर और रसोईघर तक ही सीमित था। बच्चों का पालन-पोषण, बुजुर्गों की सेवा और पति की इच्छा के अनुरूप अपने शारीरिक एवं मानसिक व्यक्तित्व को ढालना, बस यही कार्यक्रम था भारत की आम नारी का। इससे आगे कुछ भी सोचना न उसे अभिप्रेत था और न परिवार को। अपवादरूप में कोई-कोई महिला युद्ध की बागडोर संभालती अथवा राजनीति के संचालन में सक्रिय होती।

वर्तमान की परिस्थितियां काफी भिन्न हैं। नारी की सांसों पर पहरेवाली कहावतें अब अपना अर्थ खो चुकी हैं। उनकी सोच और आकांक्षा की बेजुबान पीड़ा को मार्मिक स्वर देने की पेशकश अब अपेक्षित नहीं लगती। उस पर थोपी गई पारिवारिक और सामाजिक वर्जनाओं की श्रृंखला अब टूट चुकी है। फिर भी हमारे प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रतिमानों के माध्यम से नारी के जिस स्वरूप का उल्लेख हुआ है, वह उसके प्रति घृणा और वितृष्णा का भाव जगाए बिना नहीं रहता। शास्त्रकारों और साहित्यकारों के सामने ऐसा क्या उद्देश्य था, जिसकी प्रेरणा से वे उस भाषा में बोले या वैसे प्रतिमानों का चयन किया? प्रस्तुत निबन्ध में श्रीमज्जयाचार्य द्वारा लिखित 'चौबीसी' में संदृब्ध प्रतिमानों की समीक्षा की जा रही है।

आगम-साहित्य में नारी

जैन आगमों में अंगप्रविष्ट आगमों को स्वतः प्रमाण माना गया है। उनका सीधा संबंध भगवान महावीर और आर्य सुधर्मा से जुड़ता है।

अंगसूत्रों में दूसरा सूत्र है—सूयगडो। यह जैन और जैनेतर—दोनों मान्यताओं का प्रतिपादन करनेवाला आगम है। इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग के चौथे अध्ययन का नाम है इत्थिपरिण्णा-स्त्री परिज्ञा। इसका अर्थ है स्त्री को जानो और छोड़ो। मुनि को साधना की दृष्टि से दिशादर्शन देते हुए कहा गया है कि वह स्त्री के संसर्ग से दूर रहे। जबकि किसी साध्वी को यह निर्देश नहीं दिया है कि वह पुरुषों के संसर्ग से बचे और न ही स्त्रीपरिज्ञा की तरह पुरुषपरिज्ञा नाम से किसी अध्ययन की रचना की गई है। मुनि के मन में स्त्री के प्रति उत्पन्न होनेवाले आकर्षण को दूर करने के लिए आगमकार उसे प्रतिबोध देते हैं—

**जउकुम्भे जोइसुवगूढे आसुभितत्ते णासमुवयाइ।
एवित्थियाहिं अणगारा संवासेण णासमुवयंति॥**

आग से लिपटा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र ही तप्त होकर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार अनगार स्त्रियों के संवास से नष्ट हो जाते हैं।

इसी आगम के उपसर्गपरिज्ञा नामक तीसरे अध्ययन में स्त्री को वैतरणी नदी की उपमा देते हुए कहा गया है—

**जहा णई वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमईमया॥**

जिस प्रकार तेज प्रवाह और विषम तटबंध के कारण वैतरणी नदी दुस्तर मानी गई है, उसी प्रकार अबुद्धिमान पुरुष के लिए इस लोक में स्त्रियां दुस्तर होती हैं। सूत्रकृतांग आगम के वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने स्त्री को अविश्वसनीय बताते हुए जिस रूप में उसका चरित्र-चित्रण किया है, एक प्रश्नचिह्न उपस्थित करता है। क्या वास्तव में स्त्री का हृदय इतना गूढ़ होता है? एक ओर तो यह कहा जाता है कि स्त्री स्वभाव से चंचल होती है। उसमें गंभीरता कम होती है। वह बात को पचा नहीं सकती। दूसरी ओर शीलांकाचार्य ने यह कह दिया कि वेत्रलता-गुल्म जितने जटिल स्त्री-हृदय को कोई जान ही नहीं सकता। उन्होंने एक अन्य प्रतीक के माध्यम से यहां तक कह दिया—

**गंगाए बालुया सागरे जलं हिमवओ य परिमाणं।
जाणंति बुद्धिमंता महिलाहियं ण जाणंति॥**

गंगा के बालुकणों को गिना जा सकता है, सागर के पानी का माप हो सकता है और हिमालय का परिमाण जाना जा सकता है, परन्तु महिलाओं के हृदय को नहीं जाना जा सकता।

आगमों के उत्तरवर्ती जैन और जैनेतर साहित्य में जहां कहीं महिला-चरित्र की व्याख्या की गई है, उसके दुर्बल पक्ष को ही अधिक उभारा गया है। जहां स्त्रियों की पूजा होती है, वहां देवताओं का वास होता है, ऐसी उक्तियां भी यत्र-तत्र हैं। आटे में नमक जितनी मात्रा में कहीं नारी के सबल पक्ष को वर्णित भी किया गया है पर उससे लोकचिन्तन में क्या अन्तर आ सकता है?

जयाचार्य के युग में नारी

तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य थे श्री जीतमलजी। वे अपने उपनाम जय से अधिक प्रसिद्ध हुए। उनकी साहित्य-साधना विलक्षण रही है। उन्होंने अपने जीवन में साढ़े तीन लाख पद्य परिमाण साहित्य की रचना कर एक कीर्तिमान स्थापित कर दिया। उनकी भाषा राजस्थानी रही है। विशाल जैन आगम भगवती सूत्र का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद करके उन्होंने अपनी मेधा, एकाग्रता और धृति का परिचय दिया है। वे एक महान साहित्यकार थे। उससे भी पहले वे एक साधक और प्रशासक थे। उन्होंने अपने युग में साहित्य, साधना और प्रशासन-तीनों क्षेत्रों में कुछ नए प्रयोग किए। तेरापंथ धर्मसंघ में उस समय तक किसी साध्वी को प्रशासनिक दायित्व नहीं दिया गया था। जयाचार्य ने पहली बार महासती सरदारांजी को साध्वी-समाज का नेतृत्व सौंपा। साध्वियों के वर्गों की व्यवस्था में उगे हुए संख्यागत विषमता के अंकुरों को उन्होंने एक झटके में उखाड़ दिया। हस्तलिखित पुस्तकों के संघीकरण में भी जयाचार्य ने सरदार सती का उपयोग किया। वे उनके काम से इतने संतुष्ट थे कि उनको उस युग में अतिरिक्त मूल्य दिया। जयाचार्य द्वारा लिखित 'सरदार सुजस' और 'आर्यागुणवर्णन' ग्रन्थों को देखकर यह

अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके मन में नारी जाति के प्रति कितनी ऊंची भावना थी।

जयाचार्य ज्योति के अखण्ड पुंज थे। उनका जीवन हर क्षेत्र में प्रभास्वर रहा है। उनके कर्तृत्व से पग-पग पर प्रेरणा मिलती है। केवल एक ही क्षेत्र ऐसा है, जहां कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है। एक ओर उनके युग में नारी का इतना मूल्यांकन, दूसरी ओर उनके एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'चौबीसी' के नारी-विषयक स्थल। दोनों प्रसंगों में कोई संगति नहीं बैठती। नारी के प्रति सम्मान और अपमान की युगपत प्रस्तुति किसी भी पाठक के मन में जिज्ञासा पैदा कर सकती है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? मैंने अपनी जिज्ञासा के पंख खोले। मुझे समाधान मिल गया। समाधान के सूत्र प्रस्तुत करने से पहले मैं उन स्थलों को उद्धृत कर रही हूं, जिन्होंने मेरे मन को उद्वेलित किया।

चौबीसी में नारी

चौबीसी एक स्तुतिप्रधान ग्रन्थ है। इसमें चौबीस तीर्थकरों की स्तुति की गई है। प्रत्येक तीर्थकर की स्तुति में एक-एक गीत है। दूसरे तीर्थकर अजितनाथ की स्तुति में एक पद्य है—

अहो प्रभु! रमणी राखसणी कही, विषबेली मोहजाल हो।

अहो प्रभु! काम भोग किम्पाक-सा, दाख्या दीन-दयाल हो॥

प्रभो! तुमने स्त्री को राक्षसी, विषलता और मोहजाल बताया है। प्रभो! तुमने यह भी कहा है कि कामभोग किम्पाक फल के समान है।

ग्यारहवें तीर्थकर श्रेयांसनाथ की स्तुति करते हुए जयाचार्य ने लिखा है—

त्रीयादिक नां संग ते, आलम्बन दुख-दातार रे।

अशुद्ध आलम्बन छांड नैं, धार्यो ध्यान आलम्बन सार रे॥

स्त्री आदि का संग दुखदायक आलम्बन है। तुमने इस अशुद्ध आलम्बन को छोड़कर सारभूत ध्यान तत्त्व का आलम्बन लिया।

बारहवें तीर्थकर वासुपूज्य का भजन करने का परामर्श देते हुए ग्रन्थकार ने कहा है—

**वनिता जाणी वैतरणी, शिव-सुन्दर वरवा हूस घणी।
काम-भोग तज्या किम्पाकाणी, प्रभु वासुपूज्य भजलै प्राणी॥**

प्रभु वासुपूज्य ने स्त्री को वैतरणी नदी समझा। क्योंकि उनकी अभीप्सा मुक्ति-स्त्री का वरण करने की थी। उन्होंने कामभोगों को किम्पाक समझकर छोड़ दिया। इसलिए हे प्राणी! तू उनका भजन कर।

इसी गीत में स्त्री के प्रति वितृष्णा जगानेवाला एक और पद्य है—

**स्त्री स्नेह पासा दुर्दन्ता, कह्या नरक निगोद तणा पन्था।
इह भव पर भव दुखदाणी, प्रभु वासुपूज्य भजलै प्राणी॥**

स्त्री के प्रति होनेवाला स्नेह सघन बन्धन है। उसे तोड़ना कठिन है। वह नरक और निगोद का पथ है। उससे इस भव और परभव में दुःख प्राप्त होता है—ऐसा दिशा-दर्शन देनेवाले वासुपूज्य प्रभु का भजन कर।

पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथ की स्तुति करते हुए जयाचार्य ने एक पद्य लिखा है—

**जाण्या शब्दादिक मोहजाला, रमणि-सुख किंपाक सम काला।
हेतु नरकादिक दुख आला, अहो प्रभु परम देव प्यारा॥**

प्रभो! आपने जाना कि इन्द्रियों के विषय-शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मोहपाश हैं। स्त्री का सुख किम्पाक फल के समान अनिष्टकारक तथा नरक आदि में होनेवाले दुःखों का उत्कृष्ट हेतु है। मुझे आपसे यह बोधपाठ मिला, इसलिए मेरे सर्वाधिक प्रिय देव तुम्हीं हो।

सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ के स्तुति गीत में उनकी अमृतमयी वाणी को मिथ्यात्वजनित मन्दता को मिटानेवाली बताया गया है। उनकी वाणी से प्राप्त ज्ञान का एक पहलू यह है।

**राक्षसणी रमणी वैतरणी, पुतली अशुचि दुर्गन्ध की।
बलिहारी हो शान्ति जिणंद की॥**

स्त्री राक्षसी और वैतरणी नदी है। उसकी देह अशुद्धि और दुर्गन्ध की पुतली है। मैं ऐसा अवबोध देनेवाले अर्हत शान्ति की बलिहारी जाता हूँ।

चौबीस तीर्थकरों में इक्कीस तीर्थकर समय की दृष्टि से प्राग ऐतिहासिक काल में चले जाते हैं। भगवान पार्श्व और भगवान महावीर की गणना ऐतिहासिक महापुरुषों में है। अर्हत् अरिष्टनेमि प्राग ऐतिहासिक होते हुए भी इतिहास-पुरुष के रूप में मान्य रहे हैं। राजीमती नाम की राजकुमारी के साथ उनकी सगाई हो चुकी थी। बारात को साथ लेकर वे विवाह करने के लिए जा रहे थे। बारात की भोजन-व्यवस्था के लिए बन्दी बनाए गए पशुओं का करुण क्रन्दन सुन वे विचलित हो गए। विवाह-तोरण के पास जाकर भी वे लौट आए। उनके स्तुति गीत में एक पद्य इस घटना का संकेत देता है—

**राजिमती छांडी जिनराय, शिव-सुन्दर स्युं प्रीत लगाय।
प्रभु नेम स्वामी! तूं जगनाथ अंतरयामी॥**

तुमने शिव-सुन्दरी से प्रीत लगा ली और राजीमती को छोड़ दिया।
इसीलिए तुम जगत के नाथ और अन्तर्यामी हो।

समालोच्य प्रसंग

चौबीसी में स्त्री के लिए जिन विशेषणों का उपयोग हुआ है, उनमें राक्षसी, विषवल्ली, मोहजाल, वैतरणी नदी, स्नेहपाश, नरक और निगोद का पथ, इस लोक और पर लोक में दुःखद, अशुचि और दुर्गन्ध की पुतली आदि कुछ प्रयोग समालोचना मांगते हैं। प्रश्न उठता है कि जयाचार्य ने ऐसी उपमाओं का चयन क्यों किया? क्या उनके मन में स्त्री और पुरुष के बारे में कोई पूर्वाग्रह था? उन्होंने अपने जीवन में स्त्री के ऐसे स्वरूप का अनुभव किया था अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भोगे हुए सत्य को उन्होंने अभिव्यक्ति दे दी? इस प्रकार के और भी कई प्रश्न हैं, जो मस्तिष्क के स्नायुओं को प्रकम्पित कर रहे हैं। इन प्रश्नों की गहराई में उतरने पर समाधान मिला कि चौबीसी में प्रतिपादित उक्त तथ्य जयाचार्य के अपने नहीं हैं। उन्होंने तीर्थकरों द्वारा ज्ञात और निरूपित सत्य की चर्चा की है। आपने ऐसा जाना, अनुभव किया, बताया आदि भाषा के ऐसे प्रयोग हैं, जो जयाचार्य को इस विवाद से बाहर निकाल देते हैं।

जयाचार्य को बीच में न रखा जाए तो चौबीसी में प्रतिपादित तथ्यों का सीधा सम्बन्ध तीर्थकरों के साथ जुड़ जाता है। तीर्थकर वीतराग होते हैं। उनके मन में पुरुष जाति के प्रति अनुराग और स्त्री जाति के प्रति द्वेष की कल्पना ही सर्वथा निराधार है। ऐसी स्थिति में विचार करने पर तीन बातें उभरकर सामने आती हैं—

1. यहां स्त्री शब्द का अर्थ नारी नहीं, वासना है। स्त्री को प्रतीक बनाकर उसमें वासना का आरोपण किया गया है। वासना का सम्बन्ध वेद से है। वह स्त्री में हो सकती है, पुरुष में भी हो सकती है। वासना साधना का विघ्न है। वासना की फिसलनभरी राह पर साधक फिसले नहीं, इसलिए उसे उससे दूर रहने का दिशा-दर्शन दिया गया है। स्त्री को वासना का प्रतीक माना जाए तो यह प्रतिबोध स्त्रियों और पुरुषों, दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है।

2. पुरुष बहुत शक्तिशाली होता है, पर सेक्स के मामले में वह बहुत कमजोर है। अनुकूल निमित्त प्राप्त होते ही उसका मन विचलित हो सकता है। स्त्री भी एक अनुकूल निमित्त है। उसके प्रति विकर्षण उत्पन्न करने का एक तरीका यह है कि पुरुष के मन में स्त्री के प्रति भय और जुगुप्सा के भाव जगा दिए जाएं। संभव है स्त्री के निषेधात्मक स्वरूप को उजागर करने का यह उद्देश्य रहा हो।

3. यदि हमारे तीर्थकर या आचार्य स्त्री के प्रति पक्षपातपूर्ण नीति का उपयोग करते अथवा उनकी कल्पना में उसका बीभत्स रूप ही रहता तो वे स्त्री के किसी उदात्त स्वरूप की व्याख्या नहीं करते। उन्होंने एक ओर स्त्री से दूर रहने की सीख देने के लिए उसे वैतरणी नदी बताया है तथा दूसरी ओर उसके सतत साहचर्य की कामना से उसे मुक्ति के रूप में स्वीकार किया है। राजीमती के त्याग की बात तभी घटित होती है, जब मुक्ति-स्त्री के प्रति उनका अनुराग पुष्ट हो जाता है।

नारी के सामने खड़ी चुनौतियां

साधना के क्षेत्र में स्त्री और पुरुष को विकास करने के अवसर समान रूप से प्राप्त हैं। पुरुष की तरह एक स्त्री भी साधना के सर्वोच्च शिखर

वीतरागता पर आरोहण कर सकती है। वीतराग बनने के बाद मोक्ष का द्वार सहज रूप से खुला रहता है। सामाजिक और पारिवारिक दृष्टि से भी स्त्री का अवदान कम नहीं है, फिर भी समाज में उसे दोगुना दर्जे पर रखा जाता है। कहने के लिए समानाधिकार की बात भी कही जाती है, किन्तु बहुविवाह प्रथा, वेश्यावृत्ति, सतीप्रथा और देवदासीप्रथा नारी के प्रति पुरुष के अनुदार दृष्टिकोण का ही फलित है। आज की प्रबुद्ध और नारी-हितरक्षा का संकल्प स्वीकार करनेवाली महिलाओं के सामने ये प्रथाएं बहुत बड़ी चुनौतियां हैं। अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में इन चुनौतियों का मुकाबला किया जाए।

नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण रखनेवाले पुरुषों की भी कमी नहीं है। इतिहास बताता है कि अनेक पुरुषों ने नारी समाज की अस्मिता, गौरव और अभ्युत्थान के लिए समय-समय पर अनेक अभियान चलाए हैं। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने अपने युग में महिलाओं की विकासयात्रा में जो काम किया है, उसका व्यवस्थित लेखा-जोखा हमारे पास नहीं है। फिर भी इतना अवश्य माना जा सकता है कि इस क्षेत्र में उनका कर्तृत्व मुखर नहीं होता तो जैन-शासन के महिला-समाज की छवि कुछ दूसरी ही होती।

4. आगमकालीन नारी

उत्कर्ष और अपकर्ष सृष्टि का अवश्यम्भावी क्रम है। इतिहास के आलोक में देखें तो पता चलेगा कि कोई भी इस क्रम का अपवाद बनकर नहीं रहा। बहुआयामी घात-प्रत्याघातों के बीच से गुजर कर जो अपनी अस्मिता या वजूद को बनाए रखता है, वही इस दुनिया में कुछ कर पाता है और वास्तव में उसी का जीवन सार्थक है। मनुष्य का चिन्तन सदा एक-सा नहीं रहता। प्रत्येक युग के साथ उसके चिन्तन का आधार बदलता रहता है और वह उसके सहारे विभिन्न प्रयोग भी करता रहता है। आज वह अपनी प्रयोगशाला में 'नारी' का परीक्षण कर रहा है। एक समय था जब नारी की परतंत्रता में उसका विकास देखा जाता था। इसलिए प्राचीन स्त्री-समाज केवल घर की चारदीवारी में कैद रहा। पर अब वह मनोविज्ञान की कसौटी पर कसा जा रहा है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर स्त्री का मनोविश्लेषण किया गया। आज का जनमानस इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि परतंत्र और प्रताड़ित नारी ने उतना काम नहीं किया, जितना कि स्वतंत्र और सम्मानित नारी ने।

पुरुषों की इसी प्रयोगशाला ने स्त्री को समानता का अधिकार दिया। वर्षों से पराधीन नारी का मानस जाग उठा, जब उसने अपने विषय में सुना—

पिता रक्षति कौमार्ये, भर्ता रक्षति यौवने।

पुत्रश्च स्थविरे भावे, न स्त्रीः स्वातन्त्र्यमर्हति॥

वेदों की ऋचाओं में नारी जाति प्रायः सम्मानित रही है। जो लोग वेदों से प्रभावित थे, उन्होंने स्त्री को दलित या प्रताड़ित नहीं मानकर उसकी स्तुति में लिखा—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।

मध्यकाल में स्त्री की स्थिति विचारणीय थी। आज उसमें काफी अन्तर आ चुका है। इस स्थिति तक पहुंचने से पहले नारी को किन-किन पगडंडियों से गुजरना पड़ा है, इसे जानने के लिए आगम के आलोक में स्त्री की आकृति को देखना अपेक्षित है। 2500 वर्ष के लम्बे अन्तराल में उसने जिन-जिन रूपों को स्वीकार किया है, वह उसके उत्कर्ष और अपकर्ष की जीवन्त कहानी है।

रामायण का अध्ययन करने से तत्कालीन नारी के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। उस समय का नारी-समाज केवल प्रताडनाओं में ही नहीं पला, उसको समानता का अधिकार भी मिला था। फिर भी युग का प्रभाव था, इसलिए स्त्री को हीन दृष्टि से देखा जाता था। इसका उदाहरण रामायण के उत्तरकाण्ड में इस प्रकार मिलता है— ‘सम्मान चाहने वाले सब व्यक्तियों के लिए कन्या का पिता होना दुःख की बात है¹, इस मान्यता ने पुरुष की परुषता को मूर्त रूप दिया और जन्म होते ही कन्याओं को विजन वन में छोड़ने की पद्धति चल पड़ी। राजा जनक को हल से भूमि खोदते समय ‘सीता’ मिली थी, जो संभवतः किसी की परित्यक्ता कन्या थी। ‘उस निर्जन वन में छोड़ी हुई सीता बिलख-बिलख कर रो रही थी।² इससे हम जान सकते हैं कि रामायण काल में स्त्री की क्या स्थिति थी। लेकिन इसके समानान्तर उन तथ्यों को भी नहीं भुलाया जा सकता, जिनसे स्त्री समाज के गौरव को अभिव्यक्ति मिलती है। राम का मन आहत हो गया, जब सीता का अपहरण होने पर उसके मस्तिष्क में विचार आया—‘धर्मविद, सत्यवादी राजा जनक जब भरी परिषद में सीता का कुशल पूछेंगे तो तुम क्या जवाब दोगे?’³

1. रामायण, 7/9/10

कन्यापितृत्वं हि दुःखं सर्वेषां मानकांक्षिणाम्।

2. रामायण, 5/28/2

कान्तारमध्ये विजने विसृज्य बालेव कन्या विललाप सीता।

3. रामायण, 2/118/28/9

किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजानं सत्यवादिनं जनकं पृष्टसीतं ते कुशलं जनसंसदि।

रामायण की नारी एक ओर बहुत नियंत्रित रही है, दूसरी ओर उसे पूर्ण स्वतंत्रता भी मिली है। पुरुषों की भांति स्त्रियां भी अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करने जातीं, उस समय वे आभूषणों से सज्जित रहतीं और प्रायः सन्ध्या के समय घूमा करती थीं—**सामाहे क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः।** जब राम का राज्याभिषेक हो रहा था, तब राम के साथ सीता को भी रत्नमय सिंहासन पर बैठाया गया—**रामः रत्नमये पीठे ससीतं सन्यवेशयत्।** इससे स्त्रियों का अतिशय आदर व्यक्त होता है।

उस समय आज की भांति विधवा स्त्रियों को अपशकुन नहीं माना जाता था। राम जब विजयी बनकर अयोध्या में आए तो उनकी विधवा माताएं स्वागत करने आईं। राज्याभिषेक के समय सीता को श्रृंगार विधवा सासुओं ने कराया—**प्रतिकर्म च सीतायाः सर्वा दशरथस्त्रियश्चक्रुः।**

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि रामायण की नारी को अपमान के साथ सम्मान भी मिला। किसी भी अपेक्षा से हो, उसे विकास के लिए अवकाश था। लेकिन आगमों की नारी उत्कर्ष तक नहीं पहुंच सकी। कहीं-कहीं आगम भी स्त्री को बहुत ऊंचे स्थान पर ले गए। इसके बावजूद यत्र-तत्र उसके सहज गुणों पर भी दोषों का आवरण डाला गया। वर्तमान युग की नारी से आगमकालीन नारी की तुलना की जाए तो इतिहास में बहुत अन्तर मिलता है। संभव है, उस समय का जनमानस नारी के लिए विधायक नहीं था, इसीलिए आगमों में उसकी भर्त्सना की गई।

आगम-पुरुष भगवान महावीर समदर्शी थे। उन्होंने स्त्री और पुरुष दोनों को विकास के लिए समान अधिकार दिए थे। महात्मा बुद्ध स्त्री-प्रव्रज्या की बात स्वीकार नहीं करते थे, पर भगवान महावीर ने तो पुरुष-वर्ग की तरह नारी-जाति को भी संन्यास का अधिकार दिया था। इसीलिए तो उनके शासन में चौदह हजार पुरुष मुनि बने तो छत्तीस हजार साध्वियों का संघ था।

भगवान महावीर का जहां तक प्रश्न है, स्त्री के प्रति उनके मन में अनादर का भाव हो ही नहीं सकता। गर्भावस्था में उन्होंने अपनी माता की जो स्थिति देखी, उससे स्त्री की ममता और कोमलता उनसे छिपी नहीं रही।

इसके बावजूद नारी के प्रति जो उपेक्षा या जुगुप्सा के भाव व्यक्त हुए, वे नारी को वासना का प्रतीक मानकर हुए हैं अथवा इसे तत्कालीन लोक-चिन्तन की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, क्योंकि साहित्य में तत्कालीन स्थितियों का प्रतिबिम्ब रहता ही है। दूसरी दृष्टि से विचार किया जाए तो उन स्थलों को उत्तरकाल में प्रक्षिप्त भी माना जा सकता है।

नारी के विषय में यह भी लिखा जाता है कि वह मात्र उपभोग का साधन बन रही है। इसीलिए नारी का सौन्दर्य वासना की गोद में मदिरा की तरह उफन रहा है। उपभोग- सामग्री का जहां वर्णन आता है, उसमें स्त्री का नाम प्रमुख रहता है। दशवैकालिक सूत्र में लिखा है—जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और स्वजनादि का पराधीन अवस्था में भोग नहीं करता, वह त्यागी नहीं है।¹ यहां वस्त्र और अलंकारों के साथ स्त्री को भी भोग्य-सामग्री में रखा गया है।

चक्रवर्ती राजा संभूत अपने पूर्वजन्म के भाई मुनि चित्त से कहता है—हे भिक्षु! नृत्य, गीत, वाद्य और स्त्रियों से वेष्टित होकर तुम भोग भोगो। प्रव्रज्या को तो मैं केवल दुःख मानता हूं।² यहां भी स्त्री को भोग्य-सामग्री के साथ जोड़ा गया है।

इसे पुरुषों की दुर्बलता ही माननी चाहिए कि वे स्त्री के सौन्दर्य पर आसक्त होकर साधुता को भी छोड़ देते। उनकी कमजोरी ने स्त्री को गर्ह्य बना दिया। जब कोई पुरुष स्त्री को देखकर साधनापथ से भटक जाता, उस स्थिति में स्त्री की भर्त्सना करते हुए कहा जाता—

ये स्त्रियां लोक में महा आराम हैं, जिनमें अनायास ही पुरुष फंस जाते हैं।³ कालिदास ने अपने संस्कृत काव्य 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में स्त्री का जो चित्रण किया है, उसे कुछ आलोचक ठीक नहीं मानते। कवि ने लिखा—

-
1. वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ ति वुच्चइ।। दस. 2/2
 2. नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं, नारीजणाइं परिवारयंतो।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू! मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं।। उत्तर. 13/14
 3. एस से परमारामो, जाओ लोगम्मि इत्थीओ। आयारो, 5/4/77

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु,
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैद्विजैः परभृतः खलु पोषयन्ति॥

अमानुषी स्त्रियों-मादा पक्षियों में स्त्रियों की बिना सिखाई पटुता दिखाई देती है, उन स्त्रियों का तो कहना ही क्या, जिन्हें पूरा प्रशिक्षण मिलता है। जब तक कोयल के बच्चे आकाश में उड़ने की क्षमता नहीं पाते हैं, तब तक वह उनका पालन अन्य पक्षियों से कराती है।

कोयल की चालाकी का समूचे स्त्रीसमाज पर आरोप कर कवि ने पुरुष-पात्रों के चरित्र को ऊंचा उठाना चाहा है। इसे कवि की पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है। किन्तु आगमों में स्त्री को जिन उपमाओं से उपमित किया गया है, वह अवश्य ही चिन्तनीय है। एक स्त्री को वैतरणी नदी की उपमा दी गई है। जैसे व्यक्ति वैतरणी नदी को पार नहीं कर सकता, वैसे ही अमतिमान पुरुष के लिए स्त्री दुरुत्तर है।¹

संसारी व्यक्ति राग-द्वेष से रहित नहीं होता, मोहजन्य दूसरे दुर्गुण भी तरतम रूप में सबमें मिलते हैं। फिर भी स्त्री के लिए लिखा गया है-

‘माया से परिपूर्ण दुर्विदग्ध स्त्रियों का विश्वास कौन करे? क्षण में खुश और नाराज होने वाली स्त्री के हृदय को धिक्कार है।’² क्या ये गुण पुरुषों में नहीं मिलते हैं?

स्त्रियां सामने कुछ बोलती हैं और पीठ के पीछे कुछ दूसरी बात कहने लग जाती हैं। उनके हृदय में भी अन्य कल्पनाएं रहती हैं। वे जहां वश चलता है, अपनी करतूत दिखाती हैं।³

1. जहा णई वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता।

एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया। 3/16

2. को वीससेज्ज तासिं, कतिवयभरियाण दुब्बियड्ढाणं।

खणरत्त-विरत्ताणं धिरत्थु इत्थीण हिययाणं।। सूत्र. वृत्ति पत्र 48

3. अण्णं भणंति पुरओ अण्णं पासे णिवज्जमाणीओ।

अन्नं च तासिं हियए जं च खमं तं करिंति पुणो।। सूत्र. वृत्ति पत्र 48

स्त्री को वेत्रलता की उपमा दी गई है। वेत्रलता में गांठें-ही-गांठें होती हैं, जैसे ही स्त्री ग्रथित हृदय वाली होती है। यह कथन स्त्री की हीनता को उजागर करने के लिए है अथवा पुरुष की सुरक्षा करने के लिए?

स्त्री के बारे में अनेक प्रकार के नकारात्मक विचारों को जान लेने के बाद भी पुरुष स्त्री से अपना बचाव नहीं कर सके। जब तक स्त्री का सम्पर्क नहीं होता, पुरुष का अहं पुष्ट रहता है, पर स्त्री के सामने आते ही वह अपनी हार मान लेता है। जैसा कि कहा गया है—

सन्मार्गं तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद् विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव॥

भ्रू-चाप-क्षेप-मुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्षमाण एते,
यावल्लिलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥

स्त्रियों की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए एक प्रसंग में लिखा गया है—‘जब स्त्रियां स्नेह दिखाती हैं तो इक्षुखण्ड और शर्करा से भी अधिक मीठी होती हैं। पर रूठने पर वह नीम और अकरे (कूर) से भी अधिक कड़वी हो जाती है।¹

टीकाओं में स्थान-स्थान पर **अविश्वास्याः स्त्रियः** कहकर स्त्री की अवमानना की गई है और पुरुष को शिक्षा दी गई है कि वह कपटयुक्त, स्नेह और दया से रहित, असत्य बोलने में निरत महिला-हृदय का विश्वास न करें।²

मुनि गृहस्थ के घर गोचरी के लिए जाए तो वहां बैठे नहीं। उस स्थान में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा संभव नहीं है। क्योंकि घर में स्त्रियां रहती हैं, उन्हें शंका-स्थान माना गया है। कुशीलवर्धक उस स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन करें।³

-
1. महिला य रत्तमेत्ता उच्छुखण्डं च सक्करा चैव।
सा पुण विरत्तमित्ता णिंबंकूरे विसेसेइ। सूत्र. वृत्ति पत्र 48
 2. मा वीसंभह ताणं महिलाहिययाण कवडभरियाणं।
णिण्णेहनिद्वयाणं अलियवयणजंपणरयाणं॥
 3. अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ यावि संकणं।
कुशीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए॥ दस. 6/58

प्रतिबिम्ब में भी कभी-कभी सत्य का आभास हो जाता है। शायद यह तथ्य युक्तिसंगत है। स्त्री-संसर्ग से जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे स्त्री के चित्र को देखने से भी हो सकते हैं। इसलिए कहा गया है—‘जिस भित्ति पर स्त्री का सुअलंकृत चित्र हो, उसे मुनि न देखे। सूर्य के सामने देखने से आंखें चुंधिया जाती हैं। फलतः दृष्टि वहां से हटानी पड़ती है। इसी प्रकार स्त्री के चित्र को देखकर मुनि अपनी आंखों को संयत करे।’¹ स्त्री की हर क्रिया पुरुष के पतन का कारण हो सकती है। इसलिए जैसे-तैसे पुरुष के अन्तःकरण में स्त्री के प्रति घृणा पैदा करने की दृष्टि से कहा गया है—स्त्रियां मन को खुश करनेवाली हैं। काम-राग को बढ़ानेवाली हैं। अतः ब्रह्मचर्यरत मुनि स्त्री-कथा का वर्जन करे।’²

मधुर वाणी के प्रति आकर्षण होना सहज है। किन्तु स्त्री का किसी भी प्रकार का शब्द साधना में व्यवधायक बन सकता है। इसलिए ब्रह्मचर्य की साधना में रत रहनेवाला मुनि स्त्रियों के श्रोत्रग्राह्य कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, क्रन्दन को सुनने का यत्न न करे।³

तालपुट विष व्यक्ति के जीवन का अंत कर देता है। इसलिए हर आदमी उससे दूर रहना चाहता है। स्त्री को तालपुट की उपमा देते हुए कहा गया है कि पुरुष सदा उससे दूर रहे।

‘विभूषा, स्त्री-संसर्ग और प्रणीत रस-भोजन आत्मगवेषी मुनि के लिए तालपुट विष के समान है।’⁴

-
1. चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्टूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे। दस. 8/54
 2. मणपल्हायजणणिं, कामरागविवड्ढणिं।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए॥ उत्तर. 16/2
 3. कुइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं।
बम्भचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए॥ उत्तर 16/5
 4. विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयरसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥ दस. 8/56

स्त्री का सौन्दर्य पुरुष के पतन में निमित्त बन सकता है, वैसे ही सौन्दर्यहीन नारी भी पतन का कारण बन सकती है। वासना जब सीमा का लंघन कर देती है तो वह उचित-अनुचित की मीमांसा नहीं कर पाती। इसलिए साधक को सजग करते हुए कहा गया है—

‘जिसके हाथ-पैर कटे हुए हैं, कान और नासिका भी नहीं है और सौ वर्ष की अवस्था में है, ऐसी स्त्री का भी ब्रह्मचारी वर्जन करे।’¹

इससे जाना जाता है कि स्त्री का यौवन ही नहीं, उसकी हर अवस्था कामासक्त व्यक्ति को पतित कर सकती है।

इस प्रकार आगमों में स्थान-स्थान पर नारी का निषेधात्मक वर्णन किया गया है। पता नहीं, इसके पीछे क्या दृष्टिकोण रहा है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा ही अगर एकमात्र कारण है तो वह बराबर की बात थी। स्त्री का संसर्ग जिस प्रकार पुरुष के लिए वर्जनीय है, वैसे ही पुरुष का संसर्ग स्त्री के लिए वर्जनीय है, किन्तु पुरुष का उल्लेख कहीं भी नहीं हुआ, यह क्यों? स्त्री जाति की अवमानना के लिए ही ऐसा किया गया है, यह तथ्य बुद्धिगम्य नहीं होता। विधायक दृष्टि से यह सोचा जा सकता है कि स्त्री की विशेषता है कि वह प्रतिकूल तो क्या, अनुकूल स्थितियों में भी विचलित नहीं होती। शास्त्रकारों का उद्देश्य कुछ भी रहा हो, प्रस्तुत दृष्टिकोण नारी के गौरव को बढ़ाता है। इसलिए उसकी साधना को कोई खतरा नहीं रहता।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह भी समझा जा सकता है कि पुरुष को उसकी दुर्बलता से बचाने के लिए या उसे बोध देने के लिए स्त्री को नकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु एक बात विमर्श मांगती है कि स्त्री को मोक्ष का अधिकार देने के बावजूद श्रुतज्ञान के क्षेत्र में उसकी अर्हता सीमित कर दी गई। साध्वियां बारहवां अंग दृष्टिवाद नहीं पढ़ सकतीं। इसका कारण बताते हुए कहा गया है—

1. हत्थपायपडिच्छिन्नं, कण्णनासविगप्पियं।

अवि वाससइं नारिं, बंभयारी विवज्जए। दस. 8/55

स्त्रियां स्वभाव से ही तुच्छ होती हैं, गौरवबहुल होती हैं, इसलिए थोड़ा-सा ज्ञान पाकर अहंभाव का पोषण करती हैं। इनकी इन्द्रियां सदा ही चपल होती हैं और धैर्य पक्ष बहुत कमजोर है, इसलिए महापरिज्ञा, अरुणोपपात आदि ग्रंथों का विशेष अध्ययन और दृष्टिवाद पढ़ने के लिए स्त्रियां योग्य नहीं हैं।¹

पता नहीं, पुरुष सदा उदात्त चरित्रवाले ही होते हैं या उनके मन में कभी माया आती ही नहीं। ग्रंथकारों द्वारा स्थान-स्थान पर स्त्री-चरित्र के प्रसंग में लिखा गया है— 'स्वभाव से कुटिल, दोषों की निधि स्त्री के चरित्र को कौन जानता है। लगता है, उसके शरीर में साक्षात् 'काम' रहता है।'²

एक ओर स्वयं स्त्री को मोक्ष का अधिकारी माना गया है और दूसरी ओर उसे ही मोक्ष का बाधक मानकर कहा गया है—

'दुश्चरित्र की मूल, नरक ले जानेवाली, मोक्ष में बाधा स्वरूप स्त्री का सदैव वर्जन करना चाहिए।'³

विषभरा कांटा जहां लग जाता है, वह स्थान उपचार से भी असाध्य हो जाता है। किन्तु वह विष उसी पर असर करता है, जिसने उसका स्पर्श किया है। पर स्त्री तो ऐसे विष से भरी हुई है, जो स्मरण मात्र से अनर्थ कर देती है। इसलिए कहा गया है—स्त्री को विषलिप्त कंटक जानकर उसका वर्जन करें।'⁴

आगमों के व्याख्याग्रन्थों में स्त्री के लिए कुछ विशेषण मिलते हैं—

'मायाप्रधानस्त्रीवेदः, संसारावतरणवीथी, चलस्वभावा, अदीर्घप्रेक्षिणी, आत्मगर्विता, संध्याभरेखेव मुहूर्तरागा—इस प्रकार के

1. तुच्छा गौरवबहुला, चलिंदिया दुब्बला य धीइए।
इति अतिसेसज्जयणा, भूयवादो उ नो थीणं॥ बृहत्कल्प भाष्य, गाथा 146
2. अहवा को जुवईणं जाणइ चरियं सहावकुडिलाणं।
दोसाण आगरो च्विय जाण सरिरे वसइ कामो॥ सूत्र. वृत्ति पत्र 48
3. मूलं दुच्चरियाणं हवइ उ णरयस्स वत्तणी विउला।
मोक्खस्स महाविग्घं वज्जेयव्वा सया नारी॥ सू. वृत्ति पत्र 48
4. तम्हा विवज्जए इत्थी, विसलितं व कंटगं नच्चा॥ सूत्र. 4/11

विशेषणों से स्त्री को हीन व गर्हित बताने का प्रयास किया गया है। आश्चर्य है कि ऐसी स्त्रियां भी पुरुष को अपने लक्ष्य से विचलित कर सकती हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

स्त्री अपने मतलब के लिए रोती भी है और हंसती भी है। हर व्यक्ति को अपना विश्वास करा देती है, पर स्वयं कभी विश्वास नहीं कर सकती। अतः कुलीन और शीलवान मनुष्य श्मशान-घटिका की तरह स्त्री का वर्जन करे।¹

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ दुर्गुण पुरुषों से डर गए या पुरुष वहां चले गए, जहां उनकी छाया ही नहीं पड़ सके। इसलिए वे सब स्त्री के पास रहने लगे। अन्यथा स्त्री में ऐसे दुर्गुणों की कल्पना क्यों की गई—‘दर्पण में मुंह देखकर व्यक्ति का भाव जानना कठिन है, वैसे ही स्त्री का हृदय अत्यन्त गहन है। पहाड़ी मार्गवाले दुर्ग को पाना कठिन है, वैसे ही स्त्री की मनःस्थिति को जानना मुश्किल है। उसका चित्त कमल-पत्र पर टिकी हुई बूंदों के समान चंचल है। वह एक जगह स्थिर नहीं रहता। विषांकुर के साथ बढ़ी हुई लता की तरह स्त्रियां भी दोषों के साथ बढ़ती हैं।² स्त्री मन से कुछ सोचती है, वाणी से कुछ बोलती है और कार्य कुछ और ही करती है। इसलिए मुनि मायाविनी स्त्री का विश्वास न करे।³

उपर्युक्त ग्रन्थ में स्त्री के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह वास्तविक है या नहीं? आज तक भी यह चिन्तनीय रहा है। फिर भी यह तो स्पष्ट

-
1. एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-
विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन,
नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः॥ सू.चू.पृ. 110
 2. दुर्गाह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं,
भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते।
चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र संतिष्ठते,
नार्यो नाम विषाडुकुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिताः॥ नीतिशतकम् 270
 3. अन्नं मणेण चिंतंति, वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं।
तम्हा ण सदह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा॥ सूत्र. 4/24

स्वीकार किया जा सकता है कि पुरुष या साधक को स्त्री के आकर्षण से बचाने के लिए इस प्रकार की बातें कही गई हैं।

मनोविज्ञान मानता है कि स्त्री और पुरुष में परस्पर आकर्षण होता है। फ्रायड ने लिखा है—‘व्यक्ति का आकर्षण सहज रूप से भिन्नलिंगी पर होता है।’ स्त्री में सहने की क्षमता होती है। वह अनुकूल स्थितियों में रहकर भी अपने संवेगों पर नियंत्रण कर सकती है। किन्तु पुरुष-वर्ग संवेग नियंत्रण की दृष्टि से अपेक्षाकृत दुर्बल है। फलतः उसे ही मार्गदर्शन दिया गया है।

‘इस लोक में स्त्रियां मनुष्य के लिए आसक्ति का निमित्त हैं। जो इन स्त्रियों को भली-भांति जान लेता है, उसी का श्रामण्य सफल है।¹ यह बात इसलिए कही गई है कि पुरुष स्वयं पर नियंत्रण रख सके। इसके बावजूद भी पुरुषों की मनःस्थिति में अन्तर नहीं आया, तब स्त्रियों को नाना प्रकार के दोषावरणों में लपेट कर प्रस्तुत किया गया।

स्त्रियां कीचड़ के समान हैं, ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष स्त्री संसर्ग न करे। आत्मगवेषी बनकर संयम में विचरण करे।²

कोई भी तथ्य प्रस्तुत किया जाता है, वह तत्कालीन स्थितियों के आधार पर ही प्रतिष्ठित हो सकता है। राजा इषुकार के पुरोहित ने अपने पुत्रों के मुख से श्रमण बनने की बात सुनकर कहा—जिसके लिए लोग तपस्या करते हैं, वह सब कुछ प्रभूत धन, स्त्रियां, स्वजन और इन्द्रियों के विषय तुम्हें यहीं प्राप्त हैं। फिर तुम किसलिए श्रमण होना चाहते हो।³

उस समय साधु सूने घरों या गांव के बाहर रहते थे। जो साधु बस्ती में रहता, उसे शिथिल माना जाता। वहां साधुत्व का सम्यक पालन नहीं हो सकता, यह ध्यान में रखकर कहा गया—

-
1. संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगमि इत्थिओ।
जस्स एया परिण्णाया, सुकडं तस्स सामण्णं॥ उत्तर. 2/16
 2. एवमादाय मेहावी, पंकभूया उ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए॥ उत्तर. 2/17
 3. धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं॥ उत्तरा. 14/16

‘स्त्री, पशु और नपुंसकयुक्त शयन आसन का प्रयोग करनेवाला साधु नहीं होता।’¹ संसर्ग-जन्य दोष का निवारण करने के लिए उक्त उपाय सुझाया गया है कि साधक के लिए ऐसे स्थान से दूर रहना ही अच्छा है, जिससे साधुता में बाधा पहुंचे।

विभिन्न कोणों से स्त्री के सन्दर्भ में नकारात्मक वर्णन करने का उद्देश्य संभवतः यही हो सकता है कि साधक पुरुष स्त्री के आकर्षण से बचता रहे। सामान्य ढंग से कही हुई बात का पर्याप्त असर नहीं होने पर विभीषिका दिखाकर पुरुषों को सचेष्ट करने का प्रयास किया गया। नरक की यातनाओं की स्मृति दिलाकर उन्हें संयत होने के लिए कहा गया—‘स्त्री और इन्द्रियों के विषय में गृद्ध, महारंभ और महापरिग्रह करनेवाला नरक का आयुष्य बांधना चाहता है।’²

वासना जब बुद्धि पर आवरण डाल देती है तो मनुष्य अपना हिताहित नहीं सोच सकता। उस स्थिति में पक्ष और हेतु के द्वारा ही बोधगम्य होनेवाले तथ्य को समझाने के लिए दृष्टान्त काम में लिया गया।

‘जैसे कुक्कुट के बच्चे को बिल्ली से हर समय भय बना रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय है।’³

साधक पुरुष को स्त्री-संसर्ग से विमुख करने के लिए कहा गया है—‘वक्ष में ग्रन्थि (स्तनों) वाली अनेक चित्तवाली तथा राक्षस की भांति भयावह स्त्रियों में आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन में डालकर उसे दास की भांति नचाती है।’⁴

1. नो इत्थी-पसु-पण्डग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गंथे। उत्तर. 16/3

2. इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे।

.....आउयं नरयं कंखे।। उत्तर. 7/6,7

3. जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।

एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं।। दस. 8/53

4. नो रक्खसीसु गिज्जेज्जा, गण्डवच्छासुज्जेगचित्तासु।

जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लंति जहा व दासेहिं।। उत्तर. 8/18

स्त्री का संसर्ग पतन का कारण है। ऐसा प्रतिबोध देकर उससे दूर रहने का मार्ग सुझाया गया। दूर रहने पर भी स्त्री का रूप, शब्द और चेष्टाएं आसक्ति को बढ़ाने में निमित्त बन सकती हैं। इस दृष्टि से विशेष जागरूक रहने का निर्देश देते हुए कहा गया कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मुनि जैसे आलय में रहे, जो एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित हो।'

स्त्रीसंसर्ग से दूर रहने की बात सुनकर शिष्यों ने पूछा—'भगवन्! आप ऐसा क्यों कहते हैं? यदि व्यक्ति का मन नियंत्रित है तो वह स्त्रियों के बीच रहकर भी साधना में उत्तीर्ण हो सकता है और मन वश में नहीं है तो स्त्रियों से दूर रहकर भी शुद्ध साधना नहीं कर सकता। क्योंकि जैनदर्शन क्रिया-पक्ष की अपेक्षा विचार-पक्ष को अधिक महत्त्व देता है।

संभव है, इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए यह कहा गया हो कि मन सदा नियंत्रित या अनियंत्रित ही नहीं रहता। नियंत्रित मन भी वातावरण के प्रभाव से उच्छृंखल हो सकता है। निर्ग्रन्थ यदि स्त्री के पास रहता है, उसकी सुन्दर इन्द्रियों को देखता है, उसके शब्द सुनता है तो ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो सकती है। व्रत में भेद हो सकता है, उन्माद भी संभव है। दीर्घकालीन रोग भी प्रकट हो सकता है और साधक केवली द्वारा निरूपित धर्म से भी भ्रष्ट हो सकता है। इसलिए मुनि स्त्री की कथा न कहे, न उसके निकट रहे, न मनोहर इन्द्रियां देखे और न शब्द सुने। मुनि अपने साधनाकालीन जीवन में विविध तपस्या करता है। अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तप के अनेक प्रकार हैं। स्त्रीरहित स्थान में रहना भी एक प्रकार का बाह्य तप है।

स्त्री जाति के सन्दर्भ में प्राचीनकाल व मध्यकाल में पूज्यता एवं गर्हता—दोनों प्रकार के विचार और व्यवहार उपलब्ध होते हैं। आधुनिक काल में भी इनका प्रभाव नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर तटस्थ विचारकों एवं

-
1. जं विवित्तमणाइण्णं, रहियं थीजणेण य।
बंधेस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए॥ उत्तर. 16/1
 2. उत्तर. 16/4-7

समीक्षकों ने स्त्री को गौरव-मंडित करने का प्रयास भी किया है। जार्ज हरबर्ट के अनुसार 'एक अच्छी माता सौ शिक्षकों के बराबर है।' लिंकन ने लिखा है—'मैं आज तक जो कुछ भी बन पाया हूँ या बनूँगा, इसका श्रेय मेरी माता को है।' ये तथ्य नारी समाज के गौरव को अभिव्यक्ति देनेवाले हैं।

मध्यकाल में स्त्री समाज की जो उपेक्षा या अवहेलना हुई, उसका प्रमुख कारण उसकी आर्थिक पराधीनता हो सकता है। साथ ही पर्दा-प्रथा, अनमेल विवाह, उच्च शिक्षा का अभाव, कन्या-पक्ष की हीनता, विधवाओं की दयनीय दशा, स्वयं की हीन मनोवृत्तियाँ आदि कारणों ने भी स्त्री के उत्कर्ष में बाधा खड़ी की थी। आज ये सब प्रथाएं अन्तिम श्वास ले रही हैं। कड़ियों का नाम शेष रह गया है और कुछ उस कगार तक पहुंच गई हैं। इसलिए वर्तमान युग की नारी अपने पथ के कांटों को दूर कर मंजिल पाने के लिए निर्बाध रूप से गति कर रही है। किन्तु इतने मात्र से स्त्री-समाज को यह नहीं भूल जाना चाहिए कि शास्त्रों में उसकी जो दुर्बलताएं वर्णित हैं, वे सर्वथा कल्पित या निराधार नहीं हैं। किसी अपेक्षा से उनमें सत्यांश अवश्य है। वर्तमान की नारी उन दुर्बलताओं और हीन वृत्तियों को पनपने का अवसर न दे तो उसके लिए प्रगति का पथ प्रशस्त हो सकता है।

आगमकालीन नारी की स्थिति का अध्ययन कर वर्तमान युग की नारी को गंभीर चिन्तन करना होगा। जिन-जिन स्थितियों में उसे पीछे खिसकना पड़ा, उनकी चुनौती स्वीकार करनी होगी ताकि उसके सहज गुणों का हास न हो और संभावित दुर्बलताओं का निराकरण हो सके। भारतीय संस्कृति की सुरक्षा का दायित्व स्त्री समाज पर है। भारतीय नारी उस आदर्श पथ पर चले, जिससे भारत की संस्कृति और भारतीय जीवनशैली प्रभावी बन सके।

5. उपनिषदों पर श्रमण-संस्कृति का प्रभाव

साहित्य अपने समय का दर्पण होता है। यथार्थ की भूमिका पर खड़ा साहित्यकार अपने समय की अच्छी-बुरी हर स्थिति को साहित्य में प्रतिबिम्बित कर लेता है। वह प्रतिबिम्ब साहित्यकार की अपनी संस्कृति का हो सकता है और उस पर अन्य संस्कृतियों का प्रभाव भी आ सकता है। इस दृष्टि से कोई भी साहित्य अपने समय में अधिक आलोच्य नहीं बनता। किन्तु उस पर समय की जितनी गहरी परतें चढ़ती हैं, वह उतना ही विवादास्पद बन जाता है।¹

वैदिक साहित्य में वेद, उपनिषद, ऋचा, श्रुति, स्मृति आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषदों को वेदों का अन्तिम भाग माना गया है, उन्हें वेदान्त की अभिधा प्राप्त है। कुछ व्यक्ति उपनिषदों को आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों से सम्बन्धित मानते हैं तथा कुछ व्यक्ति यह भी स्वीकार करते हैं कि उपनिषदों का कुछ भाग श्रमणों द्वारा निर्मित है। इस निर्मिति को सिद्ध करने के लिए कोई ठोस प्रमाण हमें प्राप्त नहीं है, जिसके आधार पर यह बताया जा सके कि अमुक श्रमण ने उपनिषदों के अमुक अंश की रचना की अथवा किसी श्रमण द्वारा विरचित उपनिषद विकीर्ण रूप से अन्य उपनिषदों के साथ जुड़ गया। प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त न होने पर भी अनुमान प्रमाण के द्वारा इस तथ्य को सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु मुझे यह बात अधिक उचित लगी कि जब तक हम प्रमाणपुरस्सर किसी तथ्य को प्रस्तुत नहीं कर सकते तब तक उपनिषदों के अमुक अंश को श्रमणों की रचना मानने की अपेक्षा यह स्वीकार किया जाए कि कुछ उपनिषदकार श्रमण-संस्कृति से प्रभावित थे और उन्होंने श्रमण-संस्कृति के मौलिक सन्दर्भों को ग्राह्य बुद्धि से स्वीकार

1. उपनिषद मनन पृ. 39, 40

किया। प्रस्तुत निबन्ध में उपनिषदों पर श्रमण (जैन) संस्कृति के प्रभाव की मीमांसा की जा रही है।

उपनिषदों की संख्या के बारे में अब तक कोई निश्चित मन्तव्य प्राप्त नहीं है। मुक्तिकोपनिषद में उपनिषदों के एक सौ आठ नाम गिनाए हैं। अडियार लाइब्रेरी (मद्रास) ने एक सौ उनयासी उपनिषदों का प्रकाशन किया है। उपनिषद वाक्य-कोश (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित) में दो सौ तेईस उपनिषदों के वाक्यों का संग्रह किया गया है। कुछ पाश्चात्य विद्वान इस संख्या को दो सौ पचास तक ले जाते हैं। इन सब उपनिषदों में बारह उपनिषद मुख्य माने गए हैं—ईशावास्योपनिषद, केनोपनिषद, कठोपनिषद, प्रश्नोपनिषद, मुण्डकोपनिषद, माण्डूक्योपनिषद, तैत्तिरियोपनिषद, ऐतरेयोपनिषद, छान्दोग्योपनिषद, बृहदारण्यकोपनिषद, कौषीतकी उपनिषद और श्वेताश्वतरोपनिषद।

इस संख्या-भेद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनों के अंग-आगमों की तरह मूल उपनिषद बारह हैं। शेष उपनिषद उपोपनिषद या उनके व्याख्या-साहित्य के रूप में हैं।

उपनिषदों का रचनाकाल भी सर्वसम्मत नहीं है। लुडविग महोदय का अभिमत है कि उपनिषद लगभग तीन हजार वर्ष प्राचीन हैं। लोकमान्य तिलक के अनुसार उपनिषद काल ई. पूर्व सोलहवीं सदी सिद्ध होता है। कुछ विद्वान उपनिषदों का समय ई. पूर्व 800 से 300 के बीच का मानते हैं। छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी, कठ आदि का रचनाकाल ई. पूर्व छठी शताब्दी माना गया है।¹

कीथ के अनुसार वैदिक साहित्य का कालमान इस प्रकार है—

उपनिषद—ई. पूर्व पांचवीं शताब्दी

ब्राह्मण—ई. पूर्व छठी शताब्दी

बाद की संहिताएं—ई. पूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दी।²

1. वही पृ. 40, 41

2. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन टि. 2 (ख) पृ. 39

डा. लक्ष्मण शास्त्री के अभिमत से जैनधर्म और बौद्धधर्म वेदान्त (उपनिषद) विचार-धाराओं का विकसित रूप है।¹ कीथ के मन्तव्यानुसार यह मान्यता ठीक नहीं है। इनके अभिमत से कुछ उपनिषद भगवान महावीर के बाद की रचनाएं हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्म वैदिक धर्म के विरोध में खड़े हुए धर्म हैं। अतः इनकी उत्पत्ति वैदिक धर्म के बाद माननी चाहिए। इस मन्तव्य का निरसन करने के लिए उपनिषदों के कुछ ऐसे स्थलों की चर्चा की जा रही है, जिनमें जैन-संस्कृति या श्रमण-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है।

उपनिषदों पर श्रमण-संस्कृति के प्रभाव का एक हेतु यह हो सकता है कि उस समय दोनों संस्कृतियां प्रमुख रही हों और दोनों संस्कृतियों के चिन्तनशील व्यक्तियों में परस्पर चिन्तन-मन्थन होता रहा हो। इससे एक दूसरे के विचारों का प्रभाव होना स्वाभाविक है।

दूसरा कारण अधिक सशक्त प्रतीत होता है—श्रमण परम्परा के कुछ सम्प्रदाय या कुछ व्यक्ति वैदिक परम्परा में समर्पित हो गए हों, फिर भी वे अपनी संस्कृति के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए। उनके सम्पर्क में रहनेवाले व्यक्तियों के चिन्तन और उनके ग्रन्थों में श्रमण-संस्कृति की पुट सहज ही लग गई हो।

श्रमण-संस्कृति के प्रतीक तत्त्व हैं—व्रत, संन्यास, यज्ञ-विरोध, वेद का अप्रामाण्य, जाति की अतात्त्विकता, समत्व भावना और अहिंसा।²

वैदिक-संस्कृति के मूलभूत तत्त्व हैं—दान, स्नान, ईश्वरकर्तृत्व, आत्मा, परलोक, स्वर्ग, नरक और निर्वाण।³ इन हेतुओं के आधार पर उपनिषदों के कुछ स्थल चिन्तनीय हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में एक उल्लेख है—अमावस्या की रात्रि में सोम देवता की पूजा के लिए कलास (गिरगिट) की भी हिंसा न करें।⁴

1. वैदिक साहित्य का विकास पृ. 15

2. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. 28

3. वही—पृ. 60

4. बृहदारण्यक : एतां रात्रिं प्राणभूतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै। 1/5/14

प्रस्तुत सन्दर्भ में विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जैन उपासकों के लिए अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को विशेष धर्मारधना का उल्लेख है। प्रतिमाधारी श्रावकों की चतुर्थ प्रतिमा में इन दिनों प्रतिपूर्ण पौषध करने का विधान है। अमावस्या को हिंसा निषेध की बात इस प्रसंग से प्रभावित प्रतीत होती है।

यज्ञ वैदिक-दर्शन का मुख्य अनुष्ठान है। क्रियावादी वैदिक-दर्शन की कोई भी शाखा यज्ञ का प्रतिरोध नहीं कर सकती। किन्तु मुण्डकोपनिषद में लिखा है—यज्ञ-रूप अठारह नौकाएं दृढ़ नहीं हैं। क्योंकि इनमें अवर-निकुष्ट कर्म का उल्लेख है। जो व्यक्ति इनको श्रेयस्कर जानकर अभिनन्द्य मानते हैं, वे बार-बार वृद्धत्व और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।¹

शंकराचार्य ने इस कथन को इस प्रकार प्रमाणित किया है कि यह कथन यज्ञ का प्रतिरोध नहीं, किन्तु ज्ञान-रहित कर्म की निन्दा है। मूल ग्रन्थ में यह तथ्य उल्लिखित नहीं है। अतः याज्ञिक कर्म का प्रतिरोध स्वयं प्राप्त होता है।

यज्ञ-स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है—निश्चित रूप से यज्ञ ही पुरुष है। पुरुष की आयु के चौबीस वर्ष उसके प्रातःसवन हैं। प्रातःसवन चौबीस अक्षरों वाले गायत्री छन्द से सम्बन्धित हैं। वसुगण प्रातःसवन के अनुगत हैं। पुरुष के प्राण वसु हैं। क्योंकि वे इन सबको बसाए हुए हैं।²

इसी ग्रन्थ में आगे जाकर ब्रह्मचर्य को यज्ञ बताया गया है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ज्ञाता ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य ही इष्ट है। इसके द्वारा पूजा करके ही पुरुष आत्मा को प्राप्त करता है।³

1. मुण्डकोपनिषद—

प्लवा ह्येते यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।। 1/2/7

2. छान्दोग्य उपनिषद—पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति। 3/16/1

3. छान्दोग्य उपनिषद—अथ यद्यज्ञं इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते। 8/5/1

उपनिषदों पर श्रमण-संस्कृति का प्रभाव/61

यज्ञ-कर्म के विरोध में किया गया विश्लेषण श्रमण-संस्कृति का प्रतीक है। पुरोहित सोमदेव ने जैन-मुनि हरिकेशबल से यज्ञ के सम्बन्ध में प्रश्न किया। मुनि ने प्रश्न को समाहित करते हुए कहा—‘जो संवृत है, असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता है, काय का व्युत्सर्ग करता है, शुचि है तथा देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।’¹

यज्ञ-सामग्री का उल्लेख करते हुए मुनि ने कहा—‘तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। योग (सत्प्रवृत्ति) घी डालने की करछियां हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं। कर्म ईंधन है। संयम की प्रवृत्ति पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि प्रशस्त अहिंसक होम करता हूँ।² ‘मुण्डकोपनिषद के अनुसार सब देवताओं में प्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुए। वे संसार के सर्जक और रक्षक थे। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आश्रयभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।³

‘बृहदारण्यक के अनुसार ब्रह्मा ने परमेष्ठी को ब्रह्मविद्या दी। विद्या दान की इस परम्परा में क्रमशः गौपवन ने पौतिमाष्य को लाभान्वित किया।⁴

यहां ब्रह्म विद्या (आत्मविद्या) को ब्रह्म की देन बताया गया है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मविद्या के प्रणेता भगवान ऋषभ के सौ पुत्र आत्म विद्या में पारंगत थे। नौ पुत्र आत्मविद्या विशारद थे। सम्भव है जैन दर्शन के भगवान ऋषभ ही वैदिक दर्शन के ब्रह्मा रहे हों। अनेक विद्वान वैदिक दर्शन सम्मत शिव और ऋषभ की एकता प्रमाणित कर चुके हैं।

-
1. सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्टकाओ सुइच्चतदेहो, महाजयं जयई जन्नसिद्धं॥ उत्तर., 12/42
 2. तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोगसंती, होमं हुणामी इसिणं पसत्थं॥ उत्तर., 12/44
 3. मुण्डकोपनिषद :
ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः स्वयम्भु विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ 1/1
 4. बृहदारण्यक उपनिषद-पौतिमाष्यो गौपवनः... परमेष्ठी ब्रह्मणः, ब्रह्मणः स्वयम्भु, ब्रह्मणे नमः 2/6/1-3

ब्राह्मणों ने भगवान ऋषभ और उनकी अध्यात्म-विद्या को अपनाया, यह उनकी अपूर्व उदारता का ज्वलन्त उदाहरण है। अध्यात्म-विद्या की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। वेदरचना से पहले भी यह विद्या अस्तित्व में थी। इस विद्या के पुरस्कर्ता क्षत्रिय माने गए हैं। ब्रह्म-पुराण भगवान ऋषभ को क्षत्रिय के पूर्वज मानते हैं। जैन और बौद्ध परम्परा का विकास भी आलवेत्ता क्षत्रिय के द्वारा हुआ।¹

बृहदारण्यक में उल्लिखित एक प्रसंग इस मन्तव्य की पुष्टि करनेवाला है। वहां लिखा गया है—(इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण को प्राप्त नहीं थी। जो किसी को नहीं मिली, उसे मैं तुम्हारे प्रति कहता हूं।²

‘उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन’ में आत्मविद्या के बारे में विस्तृत चर्चा है। उस चर्चा के आधार पर कुछ मन्तव्यों का स्थिरीकरण हुआ, जिनका उल्लेख यहां अप्रासंगिक प्रतीत नहीं होता। पुस्तक में अवतरणों और अभिमतों से प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

1. आत्मविद्या के आदि-स्रोत तीर्थकर थे।
2. वे क्षत्रिय थे।
3. उनकी परम्परा क्षत्रियों में बराबर समादृत रही।
4. अहिंसा का विकास भी आत्म विद्या के आधार पर हुआ।
5. यज्ञ-संस्था के समर्थक ब्राह्मणों ने वैदिक काल में आत्मविद्या को प्रमुखता नहीं दी।
6. आरण्यक व उपनिषद काल में वे आत्मविद्या की ओर आकृष्ट हुए।
7. क्षत्रियों के द्वारा उन्हें आत्मविद्या प्राप्त हुई।³

वैदिक दर्शन में अमरता की कल्पना नहीं है, क्योंकि वहां सब कर्मों से मुक्त ईश्वर का संसार में अवतरित होना मान्य है। जैन दर्शन की साधना-पद्धति का मुख्य उद्देश्य अमरत्व की प्राप्ति है।

1. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 87

2. बृहदारण्यक : यथेवं विधेतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि। 6/2/8

3. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. 89

उपनिषदों की मैत्रेयी संन्यास के लिए उत्सुक अपने पति याज्ञवल्क्य से पूछती है—‘यह वैभव-सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाए तो क्या मैं अमर हो सकती हूँ?’ याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—‘भौतिक उपकरण-सामग्री से सम्पन्न व्यक्तियों की तरह तुम्हारा जीवन होगा। धन से अमरत्व की आशा ही व्यर्थ है।¹

याज्ञवल्क्य की बात सुनकर मैत्रेयी ने कहा—‘जिससे मैं अमर नहीं बन सकती, उसे लेकर क्या करूंगी? आप अमृतत्व का जो साधन जानते हैं, वही मुझे बताओ।’²

उत्तराध्ययन में इषुकार राजा की पत्नी रानी कमलावती अपने पति की मूर्च्छा को तोड़ने के लिए कहती है—‘राजन्! यह समूचा जगत तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा?’³

उपनिषद और उत्तराध्ययन सूत्र में धन से त्राण न पाने की कल्पना में बहुत सामंजस्य है। उत्तराध्ययन का यह प्रकरण वैभव और काम-भोगों की तुच्छता का प्रतिपादन कर मनुष्य को धर्म स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का संवाद संसार की असारता का बोध करानेवाला है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध जैन-दर्शन में स्पष्ट रूप से विश्लेषित है। उपनिषदों में इसकी चर्चा करते हुए लिखा गया है—पानी में डाली गई नमक की डली पानी में विलीन हो जाती है। इसी प्रकार यह आत्मा कर्म-पुद्गलों में लीन है।

1. बृहदारण्यक : सा होवाच मैत्रेयी यन्नुम इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति। 2/4/2
2. बृहदारण्यक : सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव में ब्रूहीति। 2/4/3
3. सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव। उत्तरा. 14/39

पानी को सुखा देने पर पुनः नमक बन जाता है, इसी प्रकार कर्मक्षय होने के बाद आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। अविद्या-ग्रस्त आत्मा का संसार-भ्रमण अनेक दर्शनों को मान्य है, किन्तु आत्मा और अविद्या (कर्म) का सम्बन्ध जैन-दर्शन में जितना स्पष्ट है, उतना अन्यत्र असंभव है।¹

वैदिक-दर्शन में आत्मा शब्द का प्रयोग शरीर अर्थ में हुआ है।² किन्तु इस अर्थ की स्वीकृति में आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन की बात संगत नहीं हो सकती।³ ऐसे और भी अनेक प्रसंग हैं जो वैदिक-दर्शन के संदर्भ में अनुकूल नहीं बैठ पाते। पुत्रोत्पत्ति वैदिकों का प्रमुख धर्म है, किन्तु तत्पूर्वविद्वांसः प्रजां न कामयन्ते आदि तथ्य इसका निरसन करते हैं।

उपनिषदों पर जैनदर्शन का प्रभाव मानने का अर्थ यह नहीं है कि वैदिक ऋषियों के पास अपना कुछ था ही नहीं। वैदिक ऋषि अपने परिवेश में पूर्ण स्वतन्त्र थे, किन्तु जिन परिस्थितियों ने उनके चिन्तन को प्रभावित किया, उनकी अभिव्यक्ति ग्रहणशीलता की प्रतीक है। प्रभाव की यह स्थिति हर युग में बनी रहती है। हर सशक्त परम्परा अपने परिपार्श्व को प्रभावित करती है।

1. बृहदारण्यक 2/4/12

स यथा सैन्धवऽखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयते न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्

2. वही 2/5/14

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्यस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधुयश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः।

3. वही 2/4/5

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

6. व्याकरण के न्याय और हमारे व्यवहार

मनुष्य अनन्त शक्तियों का स्रोत है। किन्तु वह उनका उपयोग करना नहीं जानता। उसकी सारी शक्तियां आवृत पड़ी हैं। इस स्थिति में मनुष्य ने आवरण को दूर करने के लिए चिन्तन किया। पर पहली समस्या आई अभिव्यक्ति की। अभिव्यक्ति का साधन है भाषा और भाषा बनती है व्याकरण के आधार पर।

वही भाषा प्रशस्त होती है जिसका व्याकरण होता है। विकास की दृष्टि से व्याकरण भाषा को बांधता है, सीमित करता है, यह एक अपेक्षा है। दूसरी अपेक्षा से परिष्कृत भाषा का जो मूल्य होता है, वह अपरिष्कृत का नहीं हो सकता। स्वस्थ शरीर में ही आत्मा का स्वास्थ्य निहित है। अतः हमें मानना होगा कि प्रशस्त भाषा ही भावों का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है।

व्यवहार जगत में पलनेवालों के लिए तो व्याकरण का अनुसरण अपेक्षित है ही किन्तु जो व्यवहार से ऊपर उठ गए हैं, निश्चय को आत्मसात करना चाहते हैं, वे भी व्याकरण-निरपेक्ष रह कर सत्य को नहीं पा सकते। मुनि सत्यभाषी होता है, पर वह सत्य तभी बोल सकता है जब व्याकरण के विधानों को जानता हो। जैन आगमों में इसके संवादी प्रमाण मिलते हैं। शिष्य पूछता है—‘भगवन्! सत्य कैसा बोलना चाहिए?’ उत्तर मिला कि नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, संधि, पद हेतु, यौगिक’ उणादि क्रिया, विधान, धातु, स्वर, विभक्ति और वर्णयुक्त सत्य बोलना चाहिए। इससे व्याकरण की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

आगम साहित्य में व्याकरण का महत्वपूर्ण स्थान है। ‘सत्य प्रवाद पूर्व’¹ में व्याकरण के प्रमुख नियमों का उल्लेख मिलता है। स्थानांग सूत्र के आठवें

1. पण्हावागरणाइं, अ. 7/14

स्थान में आठ कारकों का उल्लेख है। अनुयोगद्वार में लिंग, वचन, काल, पुरुष आदि का निरूपण किया गया है। सामान्यतः हमारी धारणा है कि व्याकरण केवल शब्दसिद्धि का साधन है। पर वस्तुतः उसका कार्य इतना सीमित नहीं है। क्या यह कल्पना की जा सकती है कि व्याकरण शब्दसिद्धि के साथ अन्य कई रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है।

व्याकरण में एक सूत्र है—**सिद्धिरनेकान्ताद्**। यह भगवान महावीर द्वारा निरूपित अनेकान्त सिद्धान्त की महत्ता प्रकट करता है। ऐसे और भी अनेक सूत्र हैं, जिनसे हम तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को जान सकते हैं। पर यह सब प्रस्तुत निबन्ध का विवेच्य विषय नहीं है।

यहां व्याकरण में प्रयुक्त कुछ न्यायों को आधार बनाकर व्यवहार-बोध की भूमिका प्रशस्त की गई है। व्याकरण के न्याय केवल शब्दों का ही परिष्कार नहीं करते, वे व्यावहारिक सचाइयों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे भी आगे कहा जाए तो वे लोक-व्यवहार में उत्कर्ष देखना चाहते हैं। किसी भी लेखक, विचारक या वैयाकरण की यह निजी विशेषता है कि वह अपनी रचनाओं में प्रतिपाद्य के साथ व्यवहार को भी जोड़ देता है। इससे उसकी रचना पाठक की अपनी अनुभूति बन जाती है। चाहे वह एक व्यक्ति की भावाभिव्यक्ति रही हो, पर उसमें लोकजीवन की आत्मा झांकने लगती है। कोई भी रचना व्यक्तिवाद की भूमिका पर जीवित नहीं रह सकती, उसमें जो विश्वात्मा के प्रति एकत्व की अनुभूति है, वही उसके प्रसार का प्रधान हेतु है। यहां 'भिक्षु-न्याय-दर्पण' के आधार पर व्याकरण के कुछ न्यायों के विषय में विचार किया जा रहा है और व्यवहार-जगत में उनका जो महत्व रहा है, उसे भी स्पष्ट किया जा रहा है।

स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा

शब्दसंज्ञा को छोड़कर शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण होता है। 'मण्डूकादेयण्'—मण्डूक शब्द से एयण् प्रत्यय होता है। 'माण्डूकेय'—यहां मण्डूक शब्द का ग्रहण करने से उसके पर्यायवाची भेक, दर्दुर आदि शब्दों से प्रत्यय नहीं हो सकता। सामान्यतः देखा जाता है कि किसी का नाम इन्द्र

है और किसी का चन्द्र इन शब्दों से उस व्यक्ति का ही ग्रहण होगा, जिसका यह नाम है। संज्ञा के लिए यह विधान लागू नहीं है। क्योंकि जब हम किसी समूहविशेष की एक संज्ञा कर देते हैं तो उससे व्यक्तिविशेष का अर्थ नहीं निकलता। जैन, बौद्ध, वैदिक आदि शब्द व्यक्तिवाचक नहीं हैं।

स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतु संज्ञा स्वर की ही होती है। स्वर शक्तिमान हैं। अतः अधिकार के योग्य ये ही बन सकते हैं। योग्य व्यक्ति पर ही उत्तरदायित्व आता है। कायर व्यक्ति थोड़ी-सी स्थितियों में घबरा जाते हैं। व्याकरण के विधायक सूत्रों में लचीलापन न आ जाए, इसलिए स्वरों के हाथ में अधिकार सौंपा गया है।

आद्यन्तवदेकस्मिन्

जो एक है, उसे आदि भी मानो और अन्त भी। व्यक्ति अकेला होता है, असहाय होता है उसे टुकरा दिया जाता है। पग-पग पर अपमानित किया जाता है। इसलिए असहाय व्यक्ति त्राण खोजता है, शरण चाहता है। पर कोई भी उसके निकट आना नहीं चाहता। व्याकरण के न्याय इस स्थिति में उत्कर्ष देखना चाहते हैं। यहां जिसका कोई अपना नहीं होता, उसे अच्छा स्थान दिया जाता है। जैसे-ईहाञ्चक्रे। यहां 'गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः' से ई को आदि मानकर णप् को आम् कर दिया। वैसे ही अयाञ्चक्रे में अकेली ई को भी आदि में मानकर उपरोक्त कार्य कर लिया तथा जेता की तरह एता में भी 'नामिनो गुणोऽक्विति' से गुण हो गया।

प्रकृतिवदनुकरणम्

अनुकरण को प्रकृतिलभ्य सभी कार्य प्राप्त हैं। क्री धातु से क्विप् प्रत्यय आने पर 'क्विबन्ताः शब्दाः धातुत्वं नोज्जन्ति नामत्वं च प्रतिपद्यन्ते' इस न्याय से शब्द मानकर विभक्ति ले आए और क्री को धातु का अनुकरण मानने से 'धातौरिवर्णोवर्णयोरियुवौ' से इय् आदेश होने पर क्रियः बन गया। जैसे तीर्थकर, आचार्य आदि की उपासना की जाती है। उसी प्रकार कुछ लोग प्रतिमा और चित्रों में उन्हें तद्वत् मानकर पर्युपासना करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति के अनुकरण में भी प्रकृतिवत् व्यवहार होता है।

एकदेशविकृतमनन्यवत्

जिसका एक देश विकृत हो जाए उसे वैसा ही माना जाता है। उदाहरण के लिए 'क्लिष्टाक्लिशितम्' शब्द को प्रस्तुत किया जा सकता है। कृत और अकृत—इन दो शब्दों में 'क्तं नञ्विशिष्टेन' सूत्र के द्वारा समास हुआ। इसकी तरह क्लिष्ट और अक्लिशित में भी समास हो गया। यहां शब्द में एक देश विकृत यानी असदृश होने पर भी उसे वही मानकर समास कर दिया गया। किसी व्यक्ति के अन्धा या पंगु हो जाने पर भी उसे वही मानकर काम किया जाता है। क्योंकि एक अंग विकारग्रस्त होने पर भी उसका अस्तित्व नहीं मिट जाता। ठीक इसी प्रकार शब्दों में जो एकदेशीय विकार होता है, वह उसके कार्य में बाधक नहीं बन सकता।

भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार

अतीत में जो व्यक्ति जिस स्थान पर नियुक्त होता है, वर्तमान में भी उसे उसी शब्द से पुकारा जाता है। भूतपूर्व राष्ट्रपति, मंत्री आदि को उन्हीं शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। ठीक इसी प्रकार हन् धातु को वध आदेश होने पर भी 'नेर्गदनदः' सूत्र से न् को ण् करने से प्रण्यवधीत् रूप निष्पन्न होता है।

विवक्षातः कारकाणि

कारक विवक्षा से होते हैं। कर्तृत्व के धनी कई व्यक्ति होते हैं, पर अधिकार सबको नहीं मिलता। अमुक व्यक्ति वयोज्येष्ठ है, विद्वान है, अनुभवी है फिर भी उसे अधिकार नहीं मिलता। क्योंकि ये सब अपेक्षाएं विवक्षा पर टिकी हुई हैं। जिस समय जो विवक्षा होती है, उसी के अनुसार कार्यों का वितरण होता है। सब प्रकार से योग्य होने पर भी व्यक्तित्व को निखरने का अवकाश नहीं मिलता। इसका कारण वह किसी विवक्षा से न्यून है। अतः इस न्याय के अनुसार भिक्षार्थ वसति—यहां भिक्षा में सम्प्रदान कारक होने पर भी कर्तृत्व की विवक्षा से प्रथमा होने से भिक्षा वासयति रूप बना।

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्

अर्थवान् का ग्रहण करना हो वहां अनर्थक का ग्रहण नहीं होता। 'डिति तीयस्य' में जिस 'तीय' का ग्रहण किया जाता है। वह द्वेस्तीयः सूत्र से

विहित तीय है। अतः 'तीयस्मै' यहां ड़े को स्मै आदेश हो जाता है। किन्तु पटुजातीयाय—यहां तीय होने पर भी वह जातीय का अंश है। अतः उससे स्मै आदि प्राप्त नहीं है।

अर्थवान के स्थान पर अनर्थक का ग्रहण होने से बहुत बड़ा अनिष्ट भी संभव हो सकता है। महाभारत के समय अश्वत्थामा नामक हाथी के मारे जाने पर कहा गया—अश्वत्थामा हतो हतः इससे आगे नरो वा कुंजरो वा कहते समय श्री कृष्ण ने शंखनाद कर दिया। प्रस्तुत प्रसंग में द्रोणाचार्य भ्रान्त हो गए। उन्होंने अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का अनुमान लगा लिया और अपने प्रण की पूर्ति के लिए उन्हें प्राण त्याग करने पड़े।

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि

प्रकृति का ग्रहण करने पर यङ्लुगन्त का भी ग्रहण होता है। प्रणिदत्ते में जैसे न् को ण् हुआ वैसे ही प्रणिदादेति में भी हो गया। यह न्याय लोक-व्यवहार में आदर्श रूप है। कुमारी कन्या का लोक में जो आदर और सम्मान है, वह एक विधवा स्त्री को प्राप्त नहीं है। व्याकरण में जैसे मूल प्रकृति से प्रत्यय होता है, प्रत्यय का लुक् हो जाने पर भी प्रकृति को प्रायः सब अधिकार प्राप्त रहते हैं। वैसे ही समाज में लड़की का विवाह होता है। पर वैधव्य प्राप्त होने पर वह स्त्री समाज की आंखों से गिर जाती है। मंगल कार्यों में उसकी उपस्थिति को अपशकुन माना जाता है और उसके सारे अधिकार छिन जाते हैं। यह एक दृष्टि से स्त्री-जाति के प्रति अन्याय है, जो व्याकरण की दृष्टि से सम्मत नहीं है।

सम्भवतः प्राचीन काल में यह पद्धति नहीं थी। राम जब वनवास से वापिस लौटे तो मंगल कार्यों के समय दशरथ की विधवा रानियों ने भाग लिया था। महिला-जागरण के वर्तमान युग में इस प्रकार की अवधारणा के आगे प्रश्नचिह्न लग रहे हैं और यत्र-तत्र इसकी जड़ें उखड़ चुकी हैं। इसके बावजूद मध्यकाल के संस्कार इतने गहरे हो गए कि उनको जल्दी से मिटाया नहीं जा सकता। किसी भी बुराई का प्रतिकार करने में साहित्य की अहम भूमिका है। व्याकरण के न्याय भी वह भूमिका निभा रहे हैं।

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य

सन्निपातलक्षणविधि अपने निमित्त का विघात नहीं कर सकती। जैसे पपाच में णप् को मानकर द्वित्व करने से धातु में अनेक स्वर हुए। अब धातु में अनेक स्वर होने पर भी कसासदयायानेकस्वरादाम् णबादेः कृभ्वयस्ति चानुतदन्तम् के सूत्र से णप् विधायक आम् नहीं हो सकता। व्यवहार में भी हम सुनते आए हैं कि नमकहराम नहीं होना चाहिए। इस तथ्य का प्रतिनिधित्व करते हुए यह न्याय उपकार्य-उपकारक भाव की परम्परा को जीवित रखना चाहता है।

गौणमुख्ययोः मुख्यस्य ग्रहणं

गौण और प्रधान दो व्यक्तियों में से प्रधान का ग्रहण होता है। यह न्याय मुख्य की बलवत्ता दिखाता है। प्रायः देखा जाता है कि शक्ति-सम्पन्न होने पर भी किसी कारण से यदि कहीं गौणता है तो वह अपने व्यक्तित्व को निखार नहीं सकता। महाभारत में कर्ण के कर्तृत्व और व्यक्तित्व को जिस तरह कुचला गया, अकारण उसका अपमान किया गया। उसका एक मात्र कारण जातिगत गौणता थी। जिसे कर्ण ने दैवाधीन मानकर विश्राम लिया।

सूतो व सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम्।

दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्॥

मैं सारथि, सारथिपुत्र या जो कुछ भी हूँ, इसमें मेरा क्या दोष है। कुल में जन्म भाग्य के अधीन है। मेरे अधीन मेरा पुरुषार्थ है।

व्याकरणशास्त्र भी गौण और मुख्य की भेदरेखा को मिटाने में स्वयं को असमर्थ अनुभव करता है। संभवतः इसी दृष्टि से 'स्थेणोः सिच्यनुवादे चरणानाम्' में स्था और इण् धातु में प्रधान का ग्रहण किया है। अतः 'प्रत्यष्ठात् कठकालापम्' में समाहार हो गया। किन्तु साधन रूप में जहां यह प्रयुक्त है, वहां पर 'प्रत्यष्ठात् कठकालापाभ्याम्' में समाहार नहीं हुआ।

उक्तार्थानामप्रयोगः

जिसका अर्थ गम्य हो, उस अर्थ को बताने के लिए पुनः प्रत्यय, विभक्ति आदि का प्रयोग नहीं होता। 'क्रियते कटोऽनेन' इस वाक्य में क्रियते

के द्वारा कट में कर्म संज्ञा और द्वितीया विभक्ति गम्य है। अतः द्वितीया का प्रयोग नहीं किया। लेकिन कहीं-कहीं लोकरूढ़ि को निभाना भी आवश्यक हो जाता है। जैसे.काणः, खञ्जः कहने से ही जाना जाता है कि आंख से काना और पैर से लंगड़ा है। फिर भी अक्षणा काणः और पादेन खञ्जः का प्रयोग होता है। पर यहां लोकरूढ़ि को मिटाने के लिए व्याकरण ने क्रान्ति की और उक्तार्थ शब्दों को अप्रयुज्य मान लिया।

निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः

निमित्त का अभाव होने पर नैमित्तिक का भी अभाव हो जाता है। लोक में कुम्भकार का नाश होने पर भी घट आदि भावों का अस्तित्व रहता है। पर यह न्याय निमित्त और नैमित्तिक में इतना तादात्म्य देखता है कि निमित्त का नाश होते ही नैमित्तिक को भी विदा कर देता है। जैसे बिम्ब्याः फलम् (बिम्ब-ईप्-अञ्) बिम्ब के अ का लोप होता है ईप् को मानकर। अतः अञ् का लुक् होने पर 'लुक्छितलुक्वगौणीसूच्योः' से ईप् का लुक् होने पर पूर्व लुप्त अकार वापिस आ गया। फलतः बिम्बं रूप निष्पन्न हुआ। हमारे व्यवहार भी तादात्म्य भाव में ढल जाएं तो संसार में कोई किसी का शत्रु रह ही नहीं सकता।

सन्नियोगशिष्टानामेकाभावेऽन्यतरस्याप्यभावः

सहोक्त कार्यों में एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव हो जाता है। लोक में जुड़वां भाइयों में एक की मृत्यु होने पर भी दूसरा जीवित रहता है। लेकिन यहां सहजात कार्यों में इतनी आत्मीयता है कि एक के विरह में दूसरे का जीवन भी विलीन हो जाता है। जैसे पञ्च इन्द्राण्यः देवता अस्य। यहां अण् का लुक् होने पर ईप् का लुक् हुआ और ईप् के सहजात आनुक् की भी निवृत्ति हो गई। फलतः 'पञ्चन्द्रः' रूप निष्पन्न हुआ। ऐसी आत्मीयता यत्र-तत्र नहीं मिलती। किन्तु जहां स्वत्व की भावना गौण हो और आत्मीय में स्वयं का समर्पण हो, वहीं ऐसी भावना विस्तार पा सकती है।

नानुबन्धकृतान्यसाररूप्यानेकस्वरत्वानेकवर्णत्वानि

अनुबन्ध के कारण अनेक स्वर और अनेक वर्ण नहीं होते। वेशभूषा और आभूषण आदि के कारण मनुष्य का मनुष्यत्व बदल नहीं जाता। उनसे

व्यक्ति के बाहरी रूप में अन्तर आ सकता है, पर स्वरूप नहीं बदलता। 'गोदः' इस शब्द में ड और अण् दोनों प्रत्यय प्राप्त हैं। इनका वार्तमानिक स्वरूप एक नहीं है। किन्तु अनुबन्ध हटा देने पर दोनों में अकार अवशेष रहता है। अतः असारूप्य नहीं होने से केवल ड प्रत्यय ही होगा। डुपचंषन् में अनेक स्वर हैं। पर अनुबन्ध रहित धातु पच् है। इसके णबादि रूप में अनेक स्वर को मानकर आम् आदेश नहीं होता और धिनुण् धातु से बने घ्वावा शब्द में 'वन्याद्जमस्य' से आत् अनेक वर्ण आदेश होने पर भी अनुबन्धकृत अनेकवर्णत्व अमान्य होने से 'शिदनेकवर्णः सर्वस्य' से समूचे धातु को आदेश नहीं हुआ।

पूर्वोपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्

पूर्वकालीन अपवाद अनन्तर विधि को बाध सकते हैं पर उत्तरकाल में उनमें कोई निर्णायकता नहीं रहती। कोई भी विधान बनाए जाते हैं, वे निकट भविष्य की आशंकाओं को समाहित करते हैं। पर सुदूर भविष्य का दायित्व उन पर नहीं होता। समय की लम्बी अवधि में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। अतः किसी भी आपवादिक विधान को सार्वत्रिक और सार्वकालिक मान लेना भूल है। हशसो नाम्युपधादनिटोऽदृशःसक् यह सक् विधायक सूत्र अपने अनन्तर होने वाले ड को रोक देता है, किन्तु परम्पर णिच् का निषेध करने में असमर्थ है। इसलिए आश्लिक्षत् और आश्लेषि दोनों रूप बन जाते हैं।

यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते

जिस विधान के लिए उपदेश व्यर्थ होता है, वह विधि बाधित हो जाती है। लोक में निष्फल मेघवृष्टि देखी जाती है। अधिक वर्षा से भूमि तृप्त हो जाती है। ऊषर प्रदेश में फसल पैदा नहीं हो सकती। इसलिए वहां बरसना और न बरसना बराबर है। फिर भी मेघ बरसते हैं। पर व्याकरण के विधान इतने सतर्क हैं कि बिना प्रयोजन कहीं भी उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे त्यद्, तद्। यहां 'झसा जबाः' से दकार के स्थान पर दकार ही प्राप्त है। उसे करने से कोई लाभ नहीं, अतः इस विधि के लिए यहां स्थान नहीं।

सकृद्गते स्पर्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव

अन्यत्र सावकाश समान शक्तिवाली दो विधियों की एकत्र प्राप्ति का नाम है—स्पर्धा। स्पर्धा होने पर एक बार जिस विधि का निषेध हो जाता है, उसे फिर कार्यक्षेत्र में आने का अवकाश नहीं रहता। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से एक बार पराजित होकर भी फिर से शक्ति-संचय करता है। शक्ति और सेना की वृद्धि से होनेवाले प्रत्याघातों की कल्पना से पूर्व विजयी राष्ट्र भी भयभीत हो जाते हैं। किन्तु व्याकरण के विधान इससे सर्वथा विपरीत हैं। इसमें एक बार जिसे पराजित कर दिया जाता है, उसे फिर किसी भी स्थिति में मान्य नहीं किया जाता। जैसे—‘द्वयोः कुलयोः’ द्वि ओस् यहां ‘नामिनः स्वरऽनामि’ से नुम् प्राप्त हुआ लेकिन ‘आद्वेष्टेरः से टि को अकार और ‘ओसि’ से एकार होने पर ‘नामिनः स्वरऽनामि’ से पुनः नुम् प्राप्त हुआ। किन्तु पहली बार स्पर्धा में पराजित होने के कारण दूसरी बार सामर्थ्य होने पर भी उसे कार्य का अधिकार नहीं दिया गया।

संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका

एक संज्ञा दूसरी संज्ञा को बाधित नहीं कर सकती। एक ही व्यक्ति को कोई पिता कहता है और कोई मामा। किसी के लिए वह नाना, भाई, भतीजा आदि भी है। एक ही व्यक्ति की ये अनेक संज्ञाएं होने पर भी परस्पर विरोधाभास नहीं होता। क्योंकि यह व्यवहार-सम्मत है। प्रस्थः इस शब्द में प्र की उपसर्ग संज्ञा है और उपसर्ग की गति संज्ञा। एक ही की ये दोनों संज्ञाएं एक-दूसरे का निषेध नहीं कर सकतीं। अतः उपसर्ग को मानकर ङ प्रत्यय हो गया और गति संज्ञा होने से समास भी हो गया।

अन्तरङ्गाच्चानवकाशम्

बहिरंग विधान से अन्तरंग विधि बलवान होती है। फिर भी यदि बहिरंग विधि अनवकाश है तो वह अन्तरंग के कार्यों से पहले स्थान प्राप्त है। त्वमहं सिनाऽकः प्राक् च—यह सूत्र युष्मद् अस्मद् को सि के साथ त्वं अहं आदेश करता है और ‘त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकत्वे’ यह सूत्र एक वचन में त्व और म आदेश करता है। प्रत्ययाश्रित होने से अन्तरंग होने पर भी

‘त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकत्वे’ सूत्र सावकाश रहता है। अतः सि विभक्ति के प्रसंग में अन्यत्र अवकाश न मिलने के कारण त्वं अहं आदेश ही होंगे। जैन साधु अपने लिए बनाई भिक्षा का उपयोग नहीं कर सकते। श्रावक लोग अपनी अपेक्षा से जो कुछ बनाते हैं, उसी से जैन साधुओं का निर्वाह होता है। पर जैनैतर साधु अपने निमित्त बनाई गई भिक्षा भी ले सकते हैं। किसी समय समूचे ग्राम में साधुओं के निमित्त से आहार बना दिया। केवल एक घर इस स्थिति से अछूता रहा। उस मकान में दोनों साधु पहुंचे। वहां उस भिक्षा का अधिकारी जैन साधु है। क्योंकि दूसरे साधु के लिए सारा गांव सावकाश है, पर जैन मुनि के लिए उस घर के अतिरिक्त सारी भिक्षा अग्राह्य है। अतः अन्य मुनि यदि किसी अपेक्षा से अन्तरंग भी होते हैं तो भी वहां अनधिकारी हैं।

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते

जिस शब्द या धातु के बीच में कोई अन्य वर्ण आ जाता है, उस शब्द या धातु के ग्रहण करने पर वह वर्ण भी प्रथम नहीं रहता। क्योंकि जो व्यक्ति जिस समूह में बैठता है, वह उसी कोटि में गिना जाता है। व्यक्ति बहुत अच्छा है, पर बुरों की संगति में रहने से वह भी बुरा बन जाता है और बुरा आदमी भी सभ्य समाज में रहकर योग्यता पा लेता है। **सत्संगतिः किं न करोति पुंसाम्**—यह जनश्रुति इसी तथ्य का प्रतिनिधित्व करती है। अरुण यहां रुध् धातु से नम् प्रत्यय होने पर भी उसे ‘रुध्’ स्वरूप मानकर अट् का आगम कर दिया गया।

स्वाङ्गमव्यवधायी

अपना अवयव व्यवधायी नहीं होता। व्यवहार इसे सर्वथा नियामक नहीं मानता। क्योंकि कितने ही स्थलों पर स्वाङ्ग व्यवधान नहीं बनता। पर कहीं-कहीं वह व्यवधान पैदा कर सकता है। जैसे शोथ, स्फोट आदि स्वाङ्ग होने पर भी बाधक बन जाते हैं। पर व्याकरण ने इस प्रसंग में निश्चित विधान बना दिया। अतः संचस्कारः यहां कृ धातु द्वित्व होने पर सम् के आगे व्यवधान बनकर नहीं आई। इसलिए सुट् होने पर उक्त रूप निष्पन्न हुआ।

द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति

जिस तथ्य का दो बार विधान हो जाता है, वह सुबद्ध बन जाता है। फिर उसमें विकल्प नहीं हो सकता। किसी भी संघीय या सामाजिक विधान को दोहरा दिया जाता है फिर उसका पालन अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि पुनरुक्ति को दोष माना गया है, पर कहीं-कहीं वह भी उपयोगी बन जाती है। इसीलिए 'आस्थत्' यहां 'शास्त्यस्यतिवक्तिख्यातेर्दः' से और 'लृदितपुष्यादिद्युतादेः परस्मै' दोनों सूत्रों द्वारा इ प्रत्यय का विधान होने से सार्वदिक उ होता है। पर जहां केवल लृदितपुष्यादि से इ का विधान है, वहां विकल्प भी होता है। जैसे बाल-रामायण में 'मा कोपीः' ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

क्विबन्ताः शब्दाः धातुत्वं नोज्झन्ति नामत्वं च प्रतिपद्यन्ते

क्विप् प्रत्ययान्त धातु धातुत्व को नहीं छोड़ता और नामत्व को भी प्राप्त कर लेता है। क्विप् प्रत्यय केवल एक बार अपना रूप दिखाकर चला जाता है। क्योंकि उसने जो कुछ किया वह प्रतिफल की भावना से नहीं किया। कार्य पूरा होते ही वह अपने स्थान पर चला गया। जो महान होते हैं, वे कार्य अवश्य करते हैं। पर फलाशंसा और यश लिप्सा से दूर रहते हैं। ठीक इसी प्रकार क्विप् प्रत्यय आता है और धातु को शब्द बनाकर चला जाता है। पर धातु का धातुत्व भी बना रहता है। फलतः नियौ, लुवौ यहां पर शब्द बनाने से स्यादि विभक्ति आ गई और धातु मानकर इय् उव् आदेश कर दिए।

उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक्

दो स्थानों से निष्पन्न स्थानों में दोनों में से एक का व्यपदेश होता है। माता और पिता दोनों के संयोग से सन्तति पैदा होती है। यह किसकी सन्तति है? ऐसी जिज्ञासा होने पर माता या पिता एक का नामोल्लेख किया जाता है। क्योंकि दोनों में एक के व्यपदेश से ही जिज्ञासा समाहित हो जाती है। जैसे आ-ईष्यः एष्यः फिर प्र-एष्यः 'ओमाडो आकार मानकर अ का लोप करता है और 'अवर्णस्येवर्णादावेदोदरलः' इवर्ण को मानकर एकार का

विधान करता है। उभय-स्थान-निष्पन्न वर्ण एक स्थानीय ग्रहण का विधान करता है। अतः इन दोनों को रोकने के लिए 'प्रस्यैषैष्ययोः' सूत्र से प्रैष्यः रूप बनता है।

प्रत्ययलुक्पि प्रत्ययलक्षणं कार्यं विज्ञायते

प्रत्यय का लुक होने पर भी प्रत्यय को मानकर होनेवाले कार्य हो जाते हैं। पापच्यते—यहां पच् धातु से यङ् करने पर 'सन्त्यङश्च' से द्वित्व होता है, उसी प्रकार यङ् का लुक होने पर भी उसे विद्यमान मानकर द्वित्व होने से पापचीति रूप सिद्ध हुआ। प्रत्यय का मतलब है विश्वास। व्यवहार-जगत में एक बार जिस व्यक्ति का विश्वास चला जाता है, वह फिर से उस विश्वास को पा नहीं सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि किसी भी व्यक्ति का इतना अविश्वास कभी भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि उससे उसके व्यक्तित्व-विकास में बहुत भारी बाधा पहुंचती है। एक बार किसी व्यक्ति से भूल हो सकती है, उसी प्रकार उसका प्रतिकार भी हो सकता है। इसलिए सदा के लिए होनेवाला अविश्वास अमानवीय है। व्याकरण के इस न्याय से हमें सीखना चाहिए कि विश्वास खोने के बाद भी पाया जा सकता है।

न्यायाःस्थविरयष्टिप्रायाः

न्याय वृद्ध की लकड़ी के समान है। जहां अपेक्षा होती है, वहां इनका सहयोग लिया जाता है। वृद्ध आदमी लकड़ी का सहारा लेता है, पर हर समय नहीं। चलने-फिरने के समय ही उसके लिए लकड़ी की अपेक्षा रहती है। ठीक यह स्थिति न्यायों की है। 'अतिरीणां' यहां 'नपुंसके' से ह्रस्व होने पर 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के द्वारा अनन्य मानने से 'रायो हसे' इस सूत्र से आकार प्राप्त हुआ, किन्तु 'सन्निपातलक्षणोविधिरनिमित्तं तद्विधातस्य' से निषेध होने से नहीं हुआ। पर 'नुट्यतिसृचतस्रोः' से दीर्घ करने के समय उक्त न्याय का प्रयोग न करने से दीर्घ सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार और भी ऐसे कई न्याय हैं, जिनका हमारे व्यवहारों में बड़ा महत्त्व है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि न्याय हमारे व्यावहारिक जीवन को बनाते हैं। परखने की आंख चाहिए। यत्र-तत्र तत्त्व मिल सकता

है। यह हमारी भ्रान्त धारणा है कि अमुक साहित्य रोचक है और अमुक प्रेरणाप्रद है। व्यक्ति की बुद्धि का जितना उपयोग होता है, वह उतना ही मौलिक चिन्तन दे सकती है।

हमें स्वीकार करना होगा कि नीरस कहलानेवाला व्याकरण भी सरस बन सकता है, बशर्ते कि पाठक स्वयं सरस हो। अन्यथा सरसता पर भी नीरसता छा जाती है, क्योंकि व्यक्ति की अंकन करने की दृष्टियां भिन्न-भिन्न हैं।

7. उत्तराध्ययन के समालोच्य शब्द

शब्द जड़ होते हैं, किन्तु इनमें वह सामर्थ्य है जिससे ये भावों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हैं। यह एक अभिमत है। कुछ व्यक्तियों की इस अभिमत के साथ सहमति नहीं है, फिर भी वे इतना अवश्य मानते हैं कि शब्द व्यक्ति को भावों के निकट ले जाकर छोड़ देते हैं। शब्द अर्थ को अभिव्यक्ति कैसे देते हैं? इस संदर्भ में न्याय-शास्त्र में बताया है—

‘सहजसामर्थ्यसमयाभ्यां शब्दोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुः’

सहज सामर्थ्य और संकेत के द्वारा शब्द अर्थ को अभिव्यंजित करते हैं। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार शब्द अपना अर्थ बदलते रहते हैं। इस दृष्टि से शब्दों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

अतीत में झांके बिना कोई भी तथ्य अपनी सचाई व्यक्त नहीं कर सकता। क्योंकि समय के साथ-साथ उस पर इतनी गहरी परतें चढ़ जाती हैं कि उसके मूल रूप को पहचानना कठिन हो जाता है। उन परतों को हटाने के लिए अतीत के सन्दर्भ में वर्तमान को देखना पड़ता है।

काल की परतें केवल व्यक्ति और उसके सिद्धान्तों पर ही नहीं आती हैं, शब्द और अर्थ की संगति में भी कालक्रम से बहुत अन्तर आ जाता है। प्रस्तुत निबन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र के उन शब्दों को लिया गया है, जो व्याकरण की दृष्टि से सिद्ध नहीं होते। हर भाषा का अपना व्याकरण होता है। उसके आधार पर प्रयुक्त शब्द ही शुद्ध माने जाते हैं। कहीं-कहीं साहित्य में प्रयुक्त शब्द व्याकरण के नियमों के अनुरूप नहीं होते। इससे उस भाषा का साहित्य समृद्ध तो बनता है, पर उसमें मिश्रण-सा हो जाता है।

उत्तराध्ययन प्राकृत भाषा में निबद्ध रचना है। प्राकृत भाषा के वर्गीकरण के अनुसार यह अर्धमागधी प्राकृत है। इसमें प्रयुक्त कई शब्द न तो अर्धमागधी से सिद्ध होते हैं और न अन्य प्राकृत भाषाओं से। उनको आर्ष प्रयोग या देशी शब्दों की अभिधा मिली है। यहां उन शब्दों के बारे में विमर्श किया गया है।

कणहुई 2/40

कणहुई शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'कुतश्चित्' किया है। किन्तु व्याकरण के अनुसार 'कुतश्चित्' का प्राकृत रूप बनता है कुओचिय। इसलिए मानना होगा यह शब्द देशी है। उत्तराध्ययन 2/40 में इसका प्रयोग 'कस्मिंश्चित्' अर्थ में हुआ है। इससे लगता है कि यह कोई अव्यय है।

तुषिणीओ 1/25

इस शब्द का संस्कृत रूपान्तर है 'तूष्णीक'। 'सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह-ह-क्ष्णां ण्हः' इस सूत्र से ष्ण को ण्ह आदेश होने पर तुण्हीओ या तुण्हीक्को रूप बनता है। किन्तु यहां पर षकार को इट् का आगम करके 'तुषिणीओ' रूप बनाया है। लगता है यह आर्ष प्रयोग है।

दिगिंछा 2/2

क्षुधा के स्थान में दिगिंछा शब्द का प्रयोग हुआ है। दिगिंछा रूप क्षुधा का पर्यायान्तर या रूपान्तर नहीं हो सकता। क्योंकि जुगुप्स् धातु को दिगिंच्छ आदेश होता है जिसका अर्थ है घृणा करना। शायद यह कोई देशी शब्द है और प्राकृत में रूढ़ हो गया है, इसलिए इसको प्रयोग में लिया जाता है।

होक्खामि 2/12

भविष्यामि के स्थान पर होक्खामि शब्द आया है। भू धातु को हो आदेश हो जाने पर भविष्य काल में होस्सामि और होहिस्सामि रूप बनते हैं। अर्धमागधी में होक्ख का प्रयोग हुआ है। होक्खइ, होक्खन्ति आदि धातुरूपों की तरह ही यहां पर होक्खामि है। इससे लगता है कि यह धातु रूप है।

यहां संस्कृत रूप वके स्थान में क्ख का प्रयोग है। उत्तर भारत में ऐसी ध्वनियां बोली जाती हैं। पाषण्ड शब्द के स्थान में 'पाखण्ड' भी शायद इसी दृष्टि से बोला जाता है।

लाढ 2/18, 15/2

राढ और लाढ देशवाचक शब्द हैं। अनार्य देशों में एक देश का नाम है लाढ। उस प्रदेश में मुनियों को विशेष कष्ट दिए जाते थे और उनके पीछे कुत्ते लगा दिए जाते थे। संस्कृत लष्ट शब्द का प्राकृत रूपान्तर लढु है और इसी का देशी शब्द लाढ बनता है। इस शब्द का अर्थ है मनोहर। सूत्रकृतांग 10/3 में लाढ का अर्थ किया है 'साधु'। इसकी व्युत्पत्ति है—'येन केनचित् प्रासुकाहारोपकरणादिगतेन विधिना आत्मानं पालयतीति लाढः'। उत्तराध्ययन की टीका में भी यही अर्थ किया है।

कट्टु 3/2

कु धातु से ट्टु प्रत्यय लगाने से भी यह रूप बनता है। ट्टु प्रत्यय कृदन्त का है, पर अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में मूल क्रियाओं में भी प्रयुक्त हुआ है। कट्टु का अर्थ है 'कृत्वा'। इस अर्थ में इत्तु प्रत्यय भी आता है। जैनागमों में इसके उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। जैसे खवित्तु, पमज्जित्तु आदि।

बहवे परिभस्सई 3/9

बहवे बहुवचन का रूप है। यहां क्रिया में बहुवचन लाने से परिभस्संति रूप बनता है। किन्तु पदरचना में ऐसा प्रयोग ठीक नहीं बैठता। इसलिए एकवचन का प्रयोग किया गया है। सामान्यतः ऐसे प्रयोग अशुद्ध होते हैं, पर पद्यों में अपवाद रूप में ऐसे प्रयोग होते हैं।

विसालिसेहिं 3/14

विसदृश का प्राकृत रूपान्तर विसारिस होता है। विसाल शब्द मागधी में बनता है। यहां मागधी में प्रयुक्त शब्द को ही व्यवहार में लाया गया है।

वुसीमओ 5/18, 29

‘वश्यानि आयत्तानि इन्द्रियाणि विद्यन्ते येषां वश्यवन्तः’ वुसीमओ का अर्थ है दमितेन्द्रिय। प्राकृत नियमों के अनुसार यह रूप नहीं बनता। लगता है कि यह आर्ष प्रयोग है।

एलिक्खं 7/22

ईदृक्षं शब्द के स्थान में एलिक्खं शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी में एरिसं रूप बनता है। अशोक के शिलालेखों में एदिस, मागधी में एलिश तथा पाली में एदिश, एरिश, एदिक्ख और एरिक्ख शब्द प्रयोग में आए हैं। संभवतः पाली में एरिक्ख शब्द के रकार को लकार करने से एलिक्ख रूप बना है।

पुणरावि 10/16

पुणरावि का प्राकृत रूपान्तर पुणरवि होता है। छन्दभंग से बचने के लिए पुणरावि शब्द प्रयुक्त हुआ है।

मिलेक्खुया 10/16

म्लेच्छ शब्द का रूप अर्धमागधी में मिलेक्खु हो जाता है। इसके स्थान में मिलुक्खय और मिलुक्खु रूप भी मिलते हैं। पाली में इस शब्द के मिलक्खु और मिलिच्छ ये दो रूप प्रयोग में आते हैं। अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसेनी और अपभ्रंश में ‘मेच्छ’ रूप मिलता है। अर्धमागधी में मिच्छ भी आता है। जो मेच्छ शब्द को ह्रस्व करने पर बनता है। व्याकरण की दृष्टि से मिच्छु या मेच्छु शब्द बनते हैं। संभवतः मिलेक्खु व्याकरण पूर्व का प्रयोग है।

आर्य और म्लेच्छ का प्रारम्भिक विभाग भाषा पर आधारित था। जिसकी भाषा समझ में न आए, वह म्लेच्छ कहलाता था। कोश की दृष्टि से सीमान्ती लोगों का नाम म्लेच्छ है—प्रत्यन्तो म्लेच्छमण्डलः’। शब्दों की अनेकार्थकता के आधार पर सभी अर्थ ठीक बैठ जाते हैं।

इण्हिं 12/32

इदानीं का रूप बनता है इयाणिं। यहां उस अर्थ में इण्हिं शब्द आया है। अभिज्ञान शाकुन्तलं, विक्रमोर्वशीय तथा मृच्छकटिक में दाणिं और इदाणिं

शब्द प्रयोग में आए हैं। महाराष्ट्री में ये प्रयोग नहीं मिलते। इनके स्थान पर इण्हिं, एण्हिं और एत्तहे काम में आते हैं। शौरसेनी और मागधी में ये प्रयोग नहीं मिलते। 'इण्हिं' महाराष्ट्री का अनुकरण हो सकता है।

दाणिसिं 13/20

शौरसेनी में इदानीं को दाणिं आदेश होता है। इदानीं अव्यय है। अव्यय से आगे विभक्ति का लुक् हो जाता है। पर यहां सि विभक्ति है। शायद यह पद पूर्ति के लिए किया गया है।

वुइय 18/26

प्रायः सभी प्राकृत बोलियों में आसन्न भूतकालिक क्रिया वर्तमान काल के वर्ग से बनाई जाती है। पुच्छिय, णच्चिय, दुहिअ और हणिअ की तरह ही 'उक्त' के अर्थ में वुइय शब्द प्रयुक्त हुआ है। अपभ्रंश में ब्रूव् को ब्रुव आदेश होता है और ब्रू धातु से ही वुइय रूप बना है, ऐसा माना जा सकता है।

देहई 19/6

अर्धमागधी में देहई का अर्थ होता है देखना। दृश् धातु का प्राकृत रूप दिक्खइ बनता है। इससे देखइ और क्ख को ह कर देने पर देहई रूप बना है। यह राजस्थानी के देख का अनुकरण है।

लहियाण वी 20/38

अपि के स्थान में वी का प्रयोग ठीक नहीं लगता। क्योंकि यहां वि में इकार ह्रस्व होती है। छन्दभंग के भय से दीर्घ वी का प्रयोग किया गया है।

भत्तिए 20/58

भक्ति शब्द की प्राकृत रूपावली में दीर्घ ईकार आता है। इसके अनुसार भत्तीए रूप बनता है। छन्द के नियमों को ध्यान में रखकर यह रूप बनाया गया है, ऐसा लगता है।

धूरं 21/3

दुहितृ शब्द से शौरसेनी में कर्ता में दुहिदा और कर्म में दुहिदरं रूप बनता है। जैन महाराष्ट्री में इसके स्थान में धीया रूप आता है। महाराष्ट्री,

अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में धूया शब्द भी बनता है। धूया शब्द का कर्म कारक में धूयं रूप बनता है। महाराष्ट्री और अर्धमागधी में ऐसे प्रयोग मिलते हैं। इसकी शब्द रूपावली आकारान्त स्त्रीलिंग की तरह चलती है।

कहीं-कहीं दुहिता का मूल शब्द धूयरा रखा गया है। जिससे कर्म में धूयरं बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि धूयरं शब्द मूल दुहिता का रूपान्तर नहीं है। किन्तु इसी अर्थ का प्रतिनिधित्व करनेवाला कोई शब्दान्तर है।

थीणगिद्धी 33/5

निद्रा के अनेक भेदों में एक है स्त्यानद्धि। स्त्यानद्धि का प्राकृत रूपान्तर होता है थीणद्धि। यहां थीणगिद्धी शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे लगता है कि कोई स्त्यानगृद्धि शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

पम्हा 34/3, 8, 14

पद्म लेश्या के स्थान में जैनागमों में कई जगह पम्हे, पम्हा आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। व्याकरण में किसी भी नियम से ये शब्द निष्पन्न नहीं होते। व्याकरण के अनुसार पम्ह का पूर्व रूप पक्ष्म है। प्राकृत में पउम और पोम्म शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पद्म के आदि आकार को ओकार तथा द् का लोप और म को द्वित्व होने पर पोम्म रूप बनता है। व्यञ्जन से पूर्व उ करने पर पउम बनता है। यहां द्म को म्ह आदेश आर्ष प्रयोग से मानना होगा अथवा पम्ह के स्थान पर पक्ष्म शब्द को स्वीकार करना होगा।

तिरिय 34/44

तिरिय शब्द व्याकरण से निष्पन्न नहीं है। व्याकरण के नियमों से तिर्यच को तेरिच्छ आदेश होता है। आर्ष प्रयोगों में तिरिया शब्द आया है। अतः इसे भी आर्ष प्रयोग ही माना जाएगा।

विढ्जम्मि 36/82

अर्ज धातु संचय करने के अर्थ में है। इस धातु को विढ्व आदेश होता है। यहां विढ्ज शब्द त्यक्त अर्थ में आया है। त्यज् धातु को चियत्त आदेश

होता है तथा इसके चेच्चा और चिच्चा रूप भी बनते हैं। अर्धमागधी में प्रायः चियत्त शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द देशी हो सकता है।

कोक्कुइयाइं 36/263

वि, आ उपसर्गपूर्वक ह धातु को कोक्क आदेश होता है जिसका अर्थ है बोलना। यहां पर यह शब्द वचन और काया की असत चेष्टा का द्योतक हैं। लगता है कि यह शब्द इस अर्थ में रूढ़ हो गया है।

इसी प्रकार घिंसु, वग्गूहि, पाढवं, वाहल्ला, झुसिर आदि अनेक शब्द हैं, जो व्याकरण की दृष्टि से धुंधले हैं। इन सब शब्दों की मूल प्रकृति और अर्थ-संगति पर जो कुहासा छा गया है, उसे दूर करने के लिए वर्तमान को अतीत के साथ जानना आवश्यक है।

8. प्राकृत का मूल संस्कृत नहीं

वर्तमान युग की समस्याओं में भाषा भी एक समस्या है। अनेक राजनैतिक मनीषी मिलकर भी इसका समाधान नहीं पा सके हैं। राष्ट्रभाषा क्या हो? इस प्रश्न के संदर्भ में किस भाषा का उत्स क्या है? यह तथ्य भी विमर्श मांगता है।

प्राकृत और संस्कृत भारतीय भाषाएं हैं। संस्कृत भाषा देववाणी मानी जाती है। प्राकृत जैनागमों की भाषा है। यों तो प्राकृत में काव्य एवं नाटक भी लिखे गए हैं, पर इसका सीधा संबंध जैनागमों से है।

कुछ व्यक्तियों की मान्यता है कि प्राकृत भाषा का मूल संस्कृत है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार 'प्रकृतिः संस्कृतः-तत्र भवं तत्रागतं वा प्राकृतम्' मूल प्रकृति संस्कृत है। इससे निष्पन्न भाषा को प्राकृत कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'हेमशब्दानुशासन' में पहले सात अध्यायों में संस्कृत के नियमों का उल्लेख किया है तथा आठवें अध्याय में प्राकृत भाषाओं का विवेचन किया है। प्राकृत के विशेष नियमों का निर्धारण करने के बाद उन्होंने 'शेषं संस्कृतवत्' लिखकर यह सिद्ध करना चाहा है कि प्राकृत की जननी संस्कृत है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में इस अभिमत की पुष्टि की है।

हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत का मूल वैदिक संस्कृत है। इस तथ्य को पुष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—प्राकृत का एक शब्द है 'खम्भो'। ऋग्वेद में भी एक शब्द आता है स्कम्भो। इसका अर्थ पिशाल ने खम्भो ही किया है। संस्कृत में इस शब्द के स्थान में 'स्तम्भ' आता है। खम्भो शब्द स्तम्भ की अपेक्षा स्कम्भो से अधिक निकट है।

आगे उन्होंने लिखा है कि प्राकृत व्याकरण और वैदिक व्याकरणों में साम्य है। इनके नियम आपस में मिलते हैं। अण् प्रत्यय वैदिक त्वन का ही प्रतीक है। षष्ठी एकवचन 'आए' के स्थान में वैदिक रूप 'आये' होता है। इसी प्रकार तातात्, जायात्, एत्थ, इत्था, अम्हे अस्मे, वग्गुहिं वग्गुभि, सिद्धि सध्री, विउ विदु, सक्का शक्यात् आदि रूपों का साम्य प्राकृत भाषा को वैदिक संस्कृत के निकट ले जाकर छोड़ देता है।

कुछ विद्वान संस्कृत को अर्वाचीन मानते हैं और प्राकृत को प्राचीन। इस तथ्य को प्रमाणित करते हुए उन्होंने लिखा है कि संस्कृत शब्द का पहला प्रयोग पाणिनीय टीका में मिलता है। जबकि प्राकृत भाषा का समय काफी लम्बा चला जाता है। इस प्रसंग में यह चिन्तनीय है कि संस्कृत शब्द का प्रयोग भले ही अर्वाचीन हो, लेकिन महाभारत और रामायण पाणिनी से पूर्व की रचनाएं हैं। इसलिए पाणिनी के समय से संस्कृत भाषा को जोड़ना संगत नहीं है।

जिन विद्वानों ने प्राकृत का मूल संस्कृत माना है, उनका कथन भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि संस्कृत का अर्थ है परिमार्जित की हुई भाषा। इससे स्पष्ट होता है कि किसी अटपटी भाषा में संशोधन होने से इसका नाम संस्कृत हुआ है। एक मान्यता के अनुसार वह अटपटी भाषा प्राकृत है। यह भाषा उस समय लोकभाषा रही होगी। प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री नमि साधु ने लिखा है—प्रकृति का अर्थ लोक या प्रजा है। प्रजा की भाषा ही लोकभाषा हो सकती है। कालान्तर में वह परिमार्जित होकर साहित्य रूप में आई तब उसका रूप संस्कृत हो गया। फलतः संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण होने लगा। अनेक शुद्ध प्राकृत के शब्द संस्कृत में तद्वत् ही प्रयुक्त हो गए पाणिनी ने संस्कृत के नियमों को पृथक् करना चाहा, किन्तु वे नियम इतने श्लथ और लचीले थे कि संस्कृत और प्राकृत का वर्गीकरण नहीं हो सका। फलतः अनेक प्राकृत शब्द संस्कृत में प्रयुक्त हो गए।

संस्कृत में मुषल-मुसल, कलश-कलस, स्वर्ण-सुवर्ण आदि द्विविध रूप भी प्राकृत प्रभावित हैं। संभवतः कुछ प्राकृत शब्दों को संस्कृत में प्रयुक्त करके उनका संस्कृतीकरण कर दिया गया। फलतः उनके मूल स्वरूप की

पहचान नहीं हो पाती। प्राकृत पर संस्कृत का प्रभाव होने से उसकी उपेक्षा होने लगी और संस्कृत भाषा प्रभावशाली बन गई। किन्तु वर्तमान में संस्कृत भाषा की भी उपेक्षा हो रही है और हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएं छा रही हैं। संस्कृत और प्राकृत के बारे में खोज की जाए तो प्राकृत का मूल संस्कृत है, यह मान्यता सही प्रतीत नहीं होती। निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए नीचे ऐसे शब्द दिए जा रहे हैं, जिनका संस्कृत के साथ सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है—

प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी
चढ़ई	आरोहति	चढ़ना
भुक्कई	भाषति	भौंकना
घुणइ	भ्रमति	घूमना
चुंटइ	अवचिनोति	चूटना
बोल्लइ	वदति	बोलना
चव्वइ	चर्वति	चबाना
नच्चइ	नृत्यते	नाचना
पडइ	पतति	पड़ना
पढइ	पठति	पढ़ना
डसइ	दशति	डसना
सुणइ	श्रृणोति	सुनना
लट्टी	यष्टि	लाठी
सेज्जा	शयेया	सेज
बुड्डो	वृद्ध	बूढ़ा
रुट्टो	रुष्ट	रूठना
विज्जुला	विद्युत	बिजली
जुवाण	युवा	जवान

चोत्थी	चतुर्थी	चौथी
गहिरो	गंभीर	गहरा
रस्सी	रश्मि	रस्सी
सिप्पी	शुक्ता	सीप
चोगुणो	चतुर्गुण	चौगुना
खंभो	स्तम्भ	खम्भा
भाइणेज्ज	भागिनेय	भानेज
सुण्णारो	स्वर्णकार	सुनार
उक्खल	उदुखल	ऊखल
बंक	वक्र	बांका
मज्झिम	मध्यम	मंझला
कोहली	कुष्माण्डी	कोहला
सलाहणा	शलाघा	सराहना
ढिल्ल	शिथिल	ढीला
हलुक	लघु	हल्का
घिट्ठ	घृष्ट	घर्षित
बडण्ण	ज्येष्ठत्व	बडपण
वड्ढइ	वर्धते	बढ़ना
देक्खइ	पश्यति	देखना
खेल्लइ	क्रीडति	खेलना
गण्ठई	ग्रथ्नाति	गूथना
संकला	श्रृंखला	सांकल

इस प्रकार कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जिनका संस्कृत में रूपान्तर मिलता भी नहीं है। जैसे—

प्राकृत	हिन्दी
हल्लफल	हलफलाहट
चक्खइ	चखना
चुक्कइ	चूकना
हरडइ	हरडे
ढक्कइ	ढकना
छुडावइ	छुड़ाना
चिक्खल	चीखला
कुंपल	कोपल
खिरइ	खिरना
सडइ	सड़ना
चिक्कणं	चिकना

यद्यपि इन शब्दों का प्रतिनिधित्व करनेवाले संस्कृत शब्द प्रयोग में तो आते हैं, पर उन शब्दों का प्राकृत से सीधा संबंध नहीं है। अतः इस विषय में अधिक शोध की अपेक्षा है। जिससे यह स्पष्ट हो सके कि संस्कृत और प्राकृत भाषा एक दूसरे की उत्स नहीं हो सकती।

9. संस्कृत साहित्य को आचार्यश्री तुलसी की देन

अन्धकार है वहां, जहां आदित्य नहीं है।
है वह मुर्दा देश, जहां साहित्य नहीं है॥

जिस देश, समाज और राष्ट्र का साहित्य जितना विशद होता है, वह देश और समाज भी उतना ही प्रकाशमान होता है। साहित्य अतीत और अनागत को जोड़कर नए-नए उन्मेष देता रहता है। केवल शब्द-संकलन ही साहित्य नहीं बन जाता। वास्तव में साहित्य वह है जो संस्कृति, सभ्यता, कला आदि को तथ्यपरक अभिव्यक्ति दे और अपने युग की समस्याओं को सुलझाए। शब्द-सौन्दर्य साहित्य के बाह्य आकार को सजाता है तो अनुभूति और संवेदनशीलता उसके आन्तरिक आकार को संवारती है। इन सबका उत्स है साहित्यकार की अपनी प्रतिभा। काव्य भी साहित्य का एक अंग है। इसके लिए आचार्य भट्ट ने कहा है—**प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्**। काव्य में कवि की प्रतिभा को बाहर आने का मार्ग मिल जाता है। कवि के जीवनरस से अनुप्राणित काव्य-संजीवन मरणधर्मा व्यक्ति में भी अमरत्व भर देती है। कवि की संवेदनशीलता अप्राप्य को प्राप्य और अग्राह्य को ग्राह्य बना देती है। काव्य जीवन की अस्पष्ट चेतना को मूर्त रूप देकर व्यवहार्य और सर्वभोग्य बना देता है। काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह जीवन के सत्य एवं प्रकृति के रहस्यों को खोलकर उन्हें जनहित में प्रस्तुत करता है। आचार्यश्री तुलसी ऐसे ही साहित्यकार और काव्यकार हैं, जो जीवन तथा जगत के शाश्वत व सामयिक मूल्यों का अवबोध देकर जनता को सही पथदर्शन दे रहे हैं।

कवि प्रयत्न से नहीं बनता। उसमें नैसर्गिक प्रतिभा होती है और होती है उस प्रतिभा को निखारने की क्षमता। कवि के काव्य में उसकी भावनाओं

का साक्षात् प्रतिबिम्ब रहता है, जो उसकी अनुपस्थिति में भी उसके विशद विचारों और स्वस्थ चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता हुआ जगत को अन्तः सौन्दर्य में रमण करने के लिए प्रेरित करता है।

संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषा के साहित्य की समृद्धि में आचार्यश्री तुलसी का महत्वपूर्ण योगदान है। हिन्दी और राजस्थानी में उनके ग्रन्थों की लम्बी सूची है। संस्कृत में उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, यथा—

जैनसिद्धान्तदीपिका, श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका, मनोनुशासनम्, शिक्षाषण्णवतिः, कर्तव्यषट्त्रिंशिका, संघषट्त्रिंशिका, कालुकल्याणमन्दिरम्, पंचसूत्रम् इत्यादि। प्रस्तुत एक निबन्ध में आचार्यश्री के समस्त संस्कृत वाङ्मय का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। यहां उनके कुछ प्रमुख ग्रंथों का परिचय मात्र दिया जा रहा है।

जैनसिद्धान्तदीपिका

यह ग्रन्थ जैन आगमों में वर्णित सैद्धान्तिक तथ्यों के आधार पर लिखा गया है। मनुष्य का जीवन समस्या-संकुल है। वह अपनी बाह्य समस्याओं का समाधान विज्ञान से पा सकता है। पर आन्तरिक उलझनों को सुलझाने की सुविधा उसके पास नहीं है। दर्शन-शास्त्र में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जो अन्तर्जगत की समस्याओं के सन्दर्भ में नई दिशा देनेवाले हैं। उनमें कोई अत्यधिक क्लिष्ट है तो किसी का विस्तार पाठकों में भय उत्पन्न कर देता है। प्रस्तुत पुस्तक में गंभीर तत्त्व इस कुशलता से रखे गए हैं कि न तो कोई पाठक ऊबता है और न कठिनाई से घबराकर अध्ययन को बीच में छोड़ बैठता है।

दार्शनिक समस्याओं का समाधान इस पुस्तक की अपनी विशेषता है। प्रस्तावना लेखक डॉ. सतकौड़ी मुखर्जी ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है— 'मैं इस पुस्तक का अत्यधिक ऋणी हूँ। इसे पढ़ने से मेरी समझ परिमार्जित हुई और मेरी वह उलझन दूर हुई, जिसको अब तक का मेरा अध्ययन दूर नहीं कर सका। इस ग्रन्थ में द्रव्य, जीव, आत्मा, कर्म, मोक्ष, प्रमाण आदि तथ्यों का सूक्ष्मता और सरलता से विवेचन किया गया है।

द्रव्य की परिभाषा में कहीं पर अनन्त गुणों के पिण्ड को द्रव्य कहा गया है तो कहीं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक अवस्था को द्रव्य की अभिधा से अभिहित किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में द्रव्य की परिभाषा दी गई है—**गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्—गुण** और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। इसमें उक्त दोनों परिभाषाओं का समन्वयात्मक रूप मिलता है।

जीव की पहचान क्या है? इस प्रश्न को संक्षेप में समाहित करते हुए बताया गया है—**उपयोगलक्षणो जीवः**—जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग क्या है? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा गया है—**चेतनाव्यापार उपयोगः**—चेतना का व्यापार उपयोग है।

इससे पाठक का प्रश्न स्वयं समाहित हो जाता है। समान वातावरण और साधन-सामग्री मिलने पर भी कोई सुखी होता है और कोई दुःखी। इसका हेतु अन्य दार्शनिकों ने अविद्या, वासना, क्लेश और अदृष्ट को बताया है। जैन दर्शन उसे कर्म कहता है। कर्म क्या है? कर्म को परिभाषित करते हुए लिखा गया है—

**आत्मनःसदसद्प्रवृत्त्याऽकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म
क्वचिद् सदसत्क्रियाऽपि**

आत्मा की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहते हैं। कहीं सद-असद् क्रिया को भी कर्म कहा गया है। यह कारण में कार्य का उपचार है। इसमें मनुष्य के सुख-दुःख का दोष एवं श्रेय न तो ईश्वर पर थोपा गया है और न किसी अन्य पर। नियतिवाद को मानकर चलनेवाले यदि जैनदर्शन के कर्म तत्त्व को स्वीकार कर लें तो उनके पुरुषार्थी होने में कोई सन्देह नहीं रहेगा। जैन दर्शन न तो एकान्ततः नियतिवाद को मानकर चलता है और न पुरुषार्थवाद को। वह दोनों का समन्वय लिए चलता है।

धर्म के सम्बन्ध में लोगों में अनेक भ्रान्तियां हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दी गई परिभाषा और उसके भेदों को गहराई से समझ लिया जाए तो सहज रूप में उन भ्रान्तियों का निराकरण हो सकता है। धर्म की सरलतम परिभाषा

है—आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः—आत्मा की शुद्धि के साधन का नाम धर्म है। इतनी सरल परिभाषा के द्वारा धर्म के शुद्ध स्वरूप को स्पष्ट करने के बाद लोकधर्म के विषय में लिखा गया है—

ग्राम-नगर-राष्ट्र-कुल-जाति-युगादीनामाचारो व्यवस्था वा लोकधर्मः। गांव, नगर, राष्ट्र, कुल, जाति, युग, आदि में विद्यमान आचार और व्यवस्था लोकधर्म है। आत्मधर्म और लोकधर्म की भिन्नता बताते हुए कहा गया है—धर्म का परिणाम आत्मोदय है, इसलिए वह लोकधर्म से भिन्न है। धर्म का स्वरूप कभी परिवर्तित नहीं होता। वह सदा सब व्यक्तियों के लिए एक समान होता है, इन कारणों से भी वह लोकधर्म से भिन्न है।

कुल मिलाकर इसके आठ प्रकाश आगमिक रहस्यों से भरे हैं और नौवें प्रकाश में प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता, नय, निक्षेप आदि पर सूक्ष्मता के साथ विशद प्रकाश डाला गया है। आचार्यश्री की यह कृति जैन आगम और जैन दर्शन के विद्यार्थियों को सही मार्गदर्शन दे सकती है।

भिक्षुन्यायकर्णिका

न्याय-शास्त्र में प्रवेश करनेवालों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। यह पारिभाषिक ग्रन्थ है। परिभाषा के बिना विषय-प्रवेश दुर्गम होता है। परिभाषा की दृष्टि से इसमें नवीनता है। पूर्वकृत परिभाषाओं में उत्पन्न होने वाली शंकाओं का निरसन करते हुए ग्रंथकर्ता ने इसमें नई परिभाषाएं दी हैं, जो सरलता से बुद्धिगम्य हो जाती हैं। इसकी चर्चा स्वयं आचार्यश्री ने पुस्तक की भूमिका में की है—

संक्षिप्तरुचीनां न्यायशास्त्रे सहसा प्रवेशः स्यादिति धिया व्यरचि मयाऽनेकशास्त्रसमुपलब्धसाराऽसौ भिक्षुन्यायकर्णिका। असौ ग्रन्थः जैनन्याये प्रविविधूणां विनेयानां सुनिश्चितं भावी सदा मोदविधायी।

सूत्र और वृत्ति की संक्षिप्तता ग्रन्थ को कण्ठस्थ करने में बहुत उपयोगी है। न्याय शब्द को परिभाषित करनेवाला सूत्र है—

युक्त्यार्थपरीक्षणं न्यायः

युक्ति के द्वारा अर्थ (पदार्थ) के परीक्षण को न्याय कहते हैं।

न्याय शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—नियमयुक्त व्यवहार, प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ दिखाया जानेवाला सादृश्य और अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि। न्याय के क्षेत्र में तीसरा अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। भिक्षुन्यायकर्णिका में—नीयतेप्राप्यतेऽर्थसिद्धिर्येन स न्यायः। इस परिभाषा के द्वारा तीसरा अर्थ ही मान्य किया है।

कुछ दार्शनिकों ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए अबाधितत्व, अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन अविस्वादी या संवादि-प्रवृत्ति, प्रवृत्ति-सामर्थ्य और स्वपर-व्यवसायी आदि विशेषण जोड़े हैं।

अन्य दार्शनिकों ने वस्तु के अस्तित्व-साधन में सत्ता को स्वीकार किया है और अभाव का निरसन। किन्तु जैन दर्शन ने भाव की तरह अभाव को भी वस्तु का धर्म माना है। अभाव को न मानने से निम्न दोष उत्पन्न होते हैं—अन्यथानिर्विकारानन्तसर्वैकात्मकतोपपत्तेः—निर्विकारता, अनन्तता, सर्वात्मकता और एकात्मकता—इन उलझनों को सुलझाने के लिए अभाव को वस्तु का धर्म मानना ही होगा।

बौद्ध-दर्शन में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वीकृत नहीं है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार उनमें वाच्य-वाचक भाव का संबंध है। यदि यह नहीं होता तो शब्द अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं बन सकता।

सहजसामर्थ्यसमयाभ्यां शब्दोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुः—सहज सामर्थ्य (योग्यता) और समय (संकेत) के द्वारा शब्द अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु बनता है। वह यथार्थ है या अयथार्थ, वह वक्ता के गुण-दोषों पर निर्भर है। शब्द का काम मात्र अर्थ का ज्ञान कराना है।

अर्थप्रकाशकत्वमस्यस्वाभाविकंप्रदीपवत्, यथार्थत्वमयथार्थत्वञ्च वक्तृगुणदोषानुसारि— दीपक पथ में प्रकाश करता है पर एक प्रज्ञाचक्षु के लिए तो वह पथ तमोमय ही रहता है। इसमें दीपक का क्या दोष ?

**प्रमाणस्य विषयः सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषवाच्यावाच्य-
द्यनेकान्तात्मकं वस्तु—सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष,**

वाच्य-अवाच्य आदि अनन्तधर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय होती है। इस संदर्भ में सहज ही प्रश्न होता है कि एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों की संगति कैसे हो सकती है? इसे केवल श्रद्धागम्य मानकर ही विश्राम नहीं किया जा सकता। तर्क की कसौटी पर कसा हुआ तथ्य ही बुद्धिगम्य हो पाता है। बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—‘यह मैंने कहा है इसलिए इसे ठीक मत समझो। किन्तु प्रत्येक तथ्य को परीक्षण के बाद स्वीकार करो।’

एक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों की उपस्थिति को युक्ति से प्रमाणित करनेवाला एक सूत्र है—**विवक्षाऽविवक्षातः संगतिः।**

एक व्यक्ति एक ही समय में अपेक्षाभेद से पिता, भ्राता, पुत्र, मामा, चाचा, दादा, भानजा आदि बन जाता है। उसी प्रकार वस्तु में अनेक धर्म स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। आत्मा अमूर्त है, इसलिए अदृष्ट है। अदृष्ट पर सहसा विश्वास नहीं होता। आत्मा का ऐसा कौन-सा निश्चित चिह्न है, जिससे आत्म-तत्त्व की प्रतीति हो? इस प्रश्न का उत्तर देने वाले दो सूत्र हैं—

चैतन्यलिङ्गोपलब्धेस्तद्ग्रहणम्।

प्रेत्यसद्भावाच्च।

कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति सूर्य को नहीं देखने पर भी प्रकाश और आतप से सूर्य का अनुमान कर लेता है। उसी प्रकार अदृष्ट होने पर भी चैतन्य के द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है। पुनर्जन्म भी आत्मा के अस्तित्व को प्रकट करता है। यदि आत्मा न हो तो पुनर्जन्म किसका होगा?

बच्चे को अपने शरीर से विशेष लगाव होता है। अत्यन्त अज्ञात वस्तु के प्रति लगाव नहीं देखा जाता। हर्ष, भय, शोक आदि भी पूर्वाभ्यास होने से ही होते हैं। इनके द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। पुनर्जन्म है तो आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

न्याय के ये सूक्ष्म रहस्य छोटे-छोटे सूत्रों में भी इस प्रकार भरे हैं, जो सहज ही बोधगम्य बन जाते हैं। आचार्यश्री विद्यार्थियों की रुचि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर अपनी कृतियों में तदनुकूल सरसता और सरलता भर देते हैं। इस कृति को पाकर न्याय के विद्यार्थी सदा आचार्यश्री के ऋणी रहेंगे।

मनोनुशासनम्

मानसिक असन्तुलन कहीं भी अच्छा नहीं होता। यह जहां होता है, वहां खतरे बढ़ जाते हैं। विज्ञान ने प्रकृति पर विजय पाने की दिशा में प्रस्थान किया तो महान मनोवैज्ञानिक आचार्यश्री तुलसी ने अन्तर-जगत पर विजय पाने का उपाय सुझाया। फलस्वरूप उनकी छोटी-सी कृति 'मनोनुशासनम्' सामने आई। वह आकार-प्रकार में जितनी छोटी है, तत्त्वबोध में उतनी ही गहरी और विशाल है। इसमें योग के सूक्ष्म रहस्यों को सरल भाषा में रखने का प्रयत्न किया गया है। मन क्या है? इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए उन्होंने लिखा है—

इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राही त्रैकालिकं मनः।

मन वह है जो ज्ञान करने में इन्द्रियों की अपेक्षा रखता है, सब विषयों का ग्रहण करता है और त्रिकालवर्ती होता है। इस परिभाषा में मन का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट है। मानसिक विकास की अपेक्षा से मन को छह भूमिकाओं में विभक्त कर दिया गया है—

मूढविक्षिप्तयातायातश्लिष्टसुलीननिरुद्धभेदात् मनः षोढा।

कौन व्यक्ति किस भूमिका तक पहुंच सकता है, यह उसकी संकल्पशक्ति और साधना पर निर्भर है। साधना का सबसे बड़ा लक्ष्य होता है स्वरूप की प्राप्ति। स्वरूप की उपलब्धि के लिए संसार और कर्म दोनों का व्युत्सर्ग जरूरी है—स्वरूपोपलब्धये संसारकर्मणां व्युत्सर्गः।

स्वाध्याय और ध्यान विकास के साधन हैं। पर आंख मूंदने मात्र से ध्यान नहीं होता। जिसे आत्म-स्वरूप को पाने की प्रयास होती है, वही ध्यान कर सकता है—स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता।

प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त शक्तियां होती हैं। साधना के अभाव में शक्तियां सुप्तावस्था में रहती हैं। सुप्त शक्तियों को जागृत करने के लिए व्यक्ति संकल्प का सहारा ले—शयनकाले सत्संकल्पकरणम्।

- ते च ज्योतिर्मयोऽहमानन्दमयोऽहं स्वस्थोऽहं निर्विकारोऽहं वीर्यवानहमित्यादयः—मैं ज्योतिर्मय हूं, आनन्दमय हूं, स्वस्थ हूं,

निर्विकार हूं, वीर्यवान् हूं, इस प्रकार के संकल्प मानसिक स्वस्थता प्रदान करते हैं

दूसरे का अनिष्ट सोचने से मानसिक शक्ति का हास होता है और आत्मौपम्य के चिन्तन से विकास। इसमें ग्रन्थनिर्माता का प्राणीमात्र के प्रति समभाव झलकता है। ग्रन्थकार ने लिखा है—

**परानिष्टचिन्तनेन मनोविघातः
आत्मौपम्यचिन्तया मनोविकासः।**

प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान के प्रकार, आसन, भावना, व्युत्सर्ग, शरीर स्थित पांच प्रकार की वायु, उनके वर्ण, वायु जीतने से लाभ आदि तत्त्वों का विवेचन और यौगिक प्रक्रिया का बहुत सुन्दर ढंग से निरूपण किया गया है। मन को प्रशिक्षित करने की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत उपयोग हो सकता है।

कर्त्तव्यषट्त्रिंशिका

यह मात्र छत्तीस श्लोकों की एक लघु कृति है। सैंतीसवें श्लोक में इसकी रचना के उद्देश्य को गुम्फित किया गया है। विशेष बात यह है कि इसकी रचना एक दिन में की गई है। इसमें कर्त्तव्य के प्रति जो प्रेरणा दी गई है, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति उत्साही और सक्रिय हो सकता है।

कृत्याकृत्यविवेको हि नृपश्वोरन्तरं विदुः।

मनुष्य और पशु के बीच भेदरेखा खींचनेवाला तत्त्व है करणीय और अकरणीय का विवेक। जिस व्यक्ति में यह विवेक जागृत नहीं होता है, वह मनुष्य के शरीर में भी पशु बन जाता है।

उपदेश देना सहज है, पर उपदेश के सांचे में अपना जीवन ढालना बहुत कठिन है। जो कोरा उपदेश देकर ही अपना महत्त्व बढ़ाते हैं, उनकी वाणी विडम्बित हो जाती है—

**दद्याच्छिक्षां यथाऽन्यस्मै, तथैवाचरणं निजम्।
केवलेनोपदेशेन, निश्चितं वाग्-विडम्बना॥**

मर्यादा ऐसी श्रृंखला है, जिसमें बंधे हुए व्यक्तियों को विकास का अवसर मिलता है। पर मर्यादा को बंधन मानकर जो उनकी अवहेलना करते हैं, उन स्वच्छन्दचारियों की स्थिति का चित्रण करते हुए बताया गया है—

**कुर्यात्तुच्छत्वबुद्धिं यो, मर्यादायां महामदः।
तुच्छत्वं प्राप्नुयाल्लोके सोऽतिशीघ्रं समन्ततः॥**

शिष्य गुरु के साथ कैसा व्यवहार करे। इसकी एक ही वाक्य में कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति दी है—

आराधयेत् यथावह्निमाहिताग्निः कृतांजलिः।

आज का युग आलोचना का युग है। कोई भी नई बात सामने आती है, उसकी आलोचना शुरू हो जाती है। अच्छाई खोजने का प्रयत्न कम होता है। हर बात में बुराई देखी जाती है। यह आत्म-पतन का कारण है। मनुष्य को दूसरों की बुराई देखने की अपेक्षा स्वदोषदर्शी बनना नितान्त अपेक्षित है—

**स्वदोषाः दर्शनीयाः स्युर्येन स्यान्निर्वृतिर्हृदि।
स्वात्मदर्शी सुखी सद्यो वीरवाणी श्रुतिश्रुता॥**

इस रचना का उद्देश्य मुख्यतः साधु-साध्वियों का विवेक जागृत करना तथा उन्हें हेयोपादेय का बोध कराना है। इसलिए इसमें साधुचर्या के मुख्य घटकों का विवेचन किया गया है। फिर भी यह सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। इसमें निर्दिष्ट कर्तव्य पथ पर चलनेवाला व्यक्ति अपनी जीवन-यात्रा में सफल हो सकता है।

शिक्षाषणवतिः

आचार्यश्री अपने संघ को युग के साथ चलाना चाहते हैं। कुशल शासक वही होता है, जो स्वयं युग के साथ चले और अपने अनुगामियों को भी चलाए। वर्तमान में शिक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण है, यह ठीक भी है। क्योंकि शिक्षा का अभाव विकास में बाधक है। साध्वियां शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति करें, विशेषरूप से संस्कृत भाषा का अभ्यास करें, इस दृष्टि से 'शिक्षाषणवतिः' ग्रन्थ की रचना हुई। इसकी प्रशस्ति में लिखा है—

शिक्षाषण्णवतिः श्रन्थितेयं शुभाय,
साध्वयभ्यासाय स्वान्तसंमोदनाय॥
नवमाचार्येण प्राज्यसम्पच्छ्रितेन
भद्रं भव्यानामातनोतूच्छ्रितैषा॥

शिक्षा-षण्णवति में धर्म, गुरु, अहिंसा आदि पांच महाव्रत, विरक्ति, श्रद्धा, देव, स्याद्वाद आदि विषयों का विशद विवेचन है। यह काव्य पद्यमय और सरस है। इसे पढ़ते-पढ़ते पाठक आनन्दविभोर हो जाता है।

गुरु का प्रभाव अचिन्त्य होता है। उनके द्वारा असाध्य कार्य भी साध्य हो जाता है। कवि ने अनुभव और संवेदनशीलता के आधार पर जो लिखा है, वह काव्य का प्राण बनकर श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा जागृत कर रहा है—

कश्चिद् विभात्ययमहो सुगुरोः प्रभाव,
आरोढुमर्हति यतः खलु पङ्गुरद्रिम्॥
मूको मयाऽह समलोकि रुजार्त्तगात्रः,
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः॥

गुरु के प्रसाद से पंगु पर्वतारोहण में सफल होता है और मूक एवं रोगी भी बोलने में समर्थ हो जाता है।

असंग्रह-वृत्ति सन्तोष का पोषण करती है। जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह अकिंचन भिक्षु सबसे अधिक सुखी है। बहुत कुछ होने पर भी संग्रह-वृत्ति का विस्तार जहां है, वहां सुख की छाया भी नहीं पड़ सकती। कवि की अनुभूति ने बादलों की कालिमा को संग्रह-वृत्ति का परिणाम कहा है—

किं नेक्षसेऽम्बरविहारिणमम्बुवाह-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्॥
यावज्जहाति न जलं ममताभ्युपेतं,
तावद् बिभर्ति कलितं किल कालिमानम्॥

क्या तुम आकाश में विहार करनेवाले और सूर्य की किरणों को आच्छादित करने वाले ऊंचे मेघ को नहीं देखते? वह भी जब तक अपने

पानी का ममत्व नहीं छोड़ देता, बरस नहीं जाता, तब तक कालिमा ही धारण किए रहता है, उससे मुक्त नहीं हो सकता।

वैराग्यहीन तथा भोगलालसा से अन्धे हुए मनुष्य के शिर में यदि कोई स्त्री क्रुद्ध होकर लात भी मार दे तो वह निर्लज्ज होकर उसके पैर पपोलने लगता है। संसार का यह कितना विचित्र दृश्य है—

भोगाभिलाषपरिलुप्तपटुत्वकस्य,
वैराग्यवर्जितबलस्य शिरोऽङ्गना चेद्॥
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंक-
स्तत्पादयोर्निपततीति विचित्रमेतत्॥

व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है। समान वातावरण और अवसर मिलने पर भी सब व्यक्ति समान विकास नहीं कर सकते। एक ही पदार्थ को योग्य व्यक्ति अच्छे रूप में परिणत करता है और अयोग्य व्यक्ति उससे बुराई ग्रहण कर लेता है—

आकर्ण्य कर्णकुहरे सदृशी गुरूक्तिं,
लाभस्तु तत्र निजयोग्यतयैव लभ्यः।
आम्राङ्कुरान् कवलयन् कटु कौति काको,
यत् कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति॥

गुरु का उपदेश सब शिष्यों के लिए समान होता है। पर योग्य शिष्य ही लाभ पा सकते हैं। आम्र की मंजरियों को खाने से कोयल के स्वर में माधुर्य आता है, पर कौवे तो उन्हें भी कटुता में परिणत करते हैं।

श्रद्धा, क्षमा, विनय, सरलता, शुचिता आदि मानवता के प्रतीक हैं। जो व्यक्ति इन गुणों में रमण करता है, वह मानव से महामानव बन जाता है। उस महामानव के लिए कुछ भी असाध्य और अलभ्य नहीं रह जाता—

श्रद्धाक्षमाविनयमार्दवसत्यभक्ति-
सारल्यसाम्यशुचिसद्गुणरत्नमालाम्॥
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तस्यापदं भवति भद्रमचिन्त्यमेव॥

कवयिता परम्परा से जैन हैं, इसलिए प्रत्येक तथ्य का निरूपण उसी पद्धति से किया गया है। कवि की अपनी विशेषता होती है कि वह जिस संस्कृति में पलता है, अपने प्रत्येक काव्य में उस संस्कृति की पुट लगा देता है।

स्याद्वाद जैनदर्शन का प्राण है। आज विश्व में अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दर्शन का पथ अधिक प्रशस्त है। इसका कारण उसका अनेकान्तवाद ही है। स्याद्वाद में कवि ने जिस आत्मानन्द की अनुभूति की है, उसको कितनी सुन्दर और सरस अभिव्यक्ति दी है—

स्याद्वादी सरलाशयोऽनवरतं शान्ताग्रहो मोदते,
स्वात्ताकर्षणतत्परस्तदितरः प्राप्नोति खिन्नां गतिं॥

तथ्यं तत्त्वमहो कदाग्रहपरैराप्तं क्वचिद् किं श्रुतं,
चेत्त्वं तत्त्वरुचिर्बिभेषि भवतः स्याद्वादवादं श्रयं॥

आग्रही सदा खिन्न रहता है, वह किसी भी काम में सफल नहीं हो सकता। जो सत्य तत्त्व के जिज्ञासु हैं और संसार की भयावह स्थितियों से डरते हैं, वे स्याद्वाद के पथ पर चलते हुए अभय बन सकते हैं।

कवि के प्रत्येक काव्य में उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। इस कृति में केवल दार्शनिक तथ्यों को ही नहीं गूँथा गया है, इसमें लोक जीवन के लिए भी सुन्दर शिक्षण मिलता है—

धर्मप्रभावमनुतिष्ठति सम्यगेषा
विश्वस्थितिस्तदनुगाविह पुष्पदन्तौ॥

तेजस्ततः प्रसरति प्रतिसद्म तस्मात्,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि॥

यह पृथ्वी धर्म के प्रभाव से ही टिकी हुई है। सूर्य और चन्द्रमा भी धर्म के प्रभावक्षेत्र से बाहर नहीं जा सके, इस दृष्टि से ये उसी के अनुचर हैं। प्रत्येक घर में ज्ञान का प्रकाश उसी से फैल रहा है और हृदय-सरोवरों में सदभावना रूप कमल भी उसी के प्रभाव से विकस्वर हो रहे हैं।

आचार्यश्री की साहित्य साधना अनुपम है। संस्कृत साहित्य को उनका अवदान अपने आपमें महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत निबन्ध में उनके कुछ ग्रन्थों का विहंगावलोकन मात्र हुआ है। समस्त संस्कृतवाङ्मय पर काम हो तो उसका महत्त्व उजागर हो सकता है। तेरापंथ-शासन में संस्कृत भाषा का बीजारोपण जयाचार्य द्वारा किया गया। मघवागणी ने उसको मनोयोग से सींचा। कालूगणी के युग में पल्लवित-पुष्पित हुआ। आचार्यश्री तुलसी जैसे कुशल माली को पाकर वह शत-शत शाखाओं में फैल रहा है और भविष्य में अधिक फलवान बनता हुआ संस्कृत के विद्वानों और जिज्ञासुओं को परितोष देता रहेगा, ऐसी आशा है।

10. आगम के आलोक में कल्पवृक्ष

वृक्षों के साथ मनुष्य का बहुत निकट का सम्बन्ध रहा है। एक समय था जब मनुष्य की हर अपेक्षाएं वृक्षों के द्वारा पूरी होती थीं। यही कारण है कि वे उनका आत्मा की तरह पोषण करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वृक्षों के साथ शकुन्तला का सहोदर- स्नेह व्यक्त किया गया है।¹ यह अतिरेक नहीं है। क्योंकि वृक्ष मनुष्य के लिए बहुत उपयोगी हैं। धूप से तपे हुए क्लान्त पथिक वृक्ष की छाया में पहुंचकर शांति का अनुभव करते हैं, उनके फल खाकर भूख शान्त करते हैं और रस से प्यास बुझाते हैं। रोगी व्यक्ति तो फलों के आधार पर ही जीता है। वृक्ष शुद्ध हवा देते हैं, वर्षा के आकर्षण-केन्द्र हैं और यह भी माना जाता है कि जहां वृक्ष होते हैं वहां न तो अतिवृष्टि होती है और न अनावृष्टि, किन्तु आवश्यकता के अनुसार वर्षा होती है।

आज मनुष्य कृत्रिम पदार्थों पर निर्भर हो गया है। अतः वह स्वभाव को छोड़कर परभाव में रमण करने लगा है। उसकी आवश्यकताओं का इतना विस्तार हो गया है कि संसार के समस्त पदार्थ भी उन्हें पूरी नहीं कर सकते। किसी विचारक ने कहा है—‘विश्व के सभी व्यक्तियों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए पदार्थ पर्याप्त से भी अधिक हैं, पर एक व्यक्ति की आकांक्षा पूरी करने के लिए सभी पदार्थ अपर्याप्त हैं। इसीलिए तो आज सीमातीत भौतिक उपलब्धि के बावजूद भी मनुष्य असन्तुष्ट रहता है।

यौगलिक युग के मनुष्यों की आकांक्षाएं सीमित होती थीं उनकी भूख-प्यास का शमन वृक्षों से होता था। वस्त्र, पात्र, मकान, अग्नि आदि की पूर्ति तथा मनोरंजन के साधनों की उपलब्धि वृक्षों द्वारा ही होती थी। उन वृक्षों को

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 1, पृ. 13

जैन आगमों में 'कल्पवृक्ष' कहा गया है। आज कई लोगों को उनके अस्तित्व में सन्देह है। वे जिज्ञासा करते हैं कि कल्पवृक्षों का कोई इतिहास और अर्थ भी है या यों ही परम्परा चली आ रही है? इसके लिए कुछ अनुसन्धान की अपेक्षा है।

कल्प शब्द अनेकार्थक है। सामर्थ्य, छेदन करना, औपम्य और अधिवास आदि अर्थों में यह प्रयुक्त होता है। लेकिन यहां समर्थ अर्थ में इसका प्रयोग ठीक लगता है। जो वृक्ष अमुक-अमुक प्रकार के फल देने में समर्थ हों, वह कल्पवृक्ष है। नालन्दा हिन्दी शब्दकोश में स्वर्ग के एक वृक्ष का नाम कल्पक तरु बताया है। संभवतः यह कल्पवृक्ष का ही प्रतीक है। कुछ ग्रन्थों में इसे देवलोक का वृक्षविशेष माना गया है। कल्पना के अनुरूप फल देने के कारण इसका नाम कल्पवृक्ष हो गया।

सामान्यतः यह माना जाता है कि एक ही वृक्ष सब आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की अपेक्षा होती, वह वृक्ष के पास जाकर याचना करता और तत्काल उसे वह वस्तु मिल जाती थी। कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि कोई भी वृक्ष इच्छित पदार्थ देने में समर्थ नहीं था, किन्तु जिन वृक्षों के अधिष्ठाता देवता होते थे, उनकी उपासना करने पर वे वृक्षों के माध्यम से ईप्सित वस्तुएं देते थे। लेकिन यह तथ्य युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

आगमों में सात और दस प्रकार के वृक्षों का वर्णन मिलता है। वे वृक्ष भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति करनेवाले थे। इससे स्पष्ट होता है कि सब वृक्षों का अपना अलग-अलग क्षेत्र था और उस सीमा तक वे अपना कार्य करते थे।

स्थानांग सूत्र में सात प्रकार के वृक्षों का उल्लेख है। वे विमलवाहन कुलकर के समय में थे। उनके फल मनुष्यों की आजीविका के साधन थे। उन वृक्षों में दीप, ज्योतिष्क और त्रुटितांग वृक्षों को नहीं लिया गया है। संभवतः उस क्षेत्र में वाद्य और प्रकाश देनेवाले वृक्ष नहीं थे।¹ स्थानांग सूत्र

1. विमलवाहणे णं कुलकरे सत्तविधा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमागच्छिसु तं जहा-
मतंगया य भिगा, चित्तंगा चव होंति चित्तरसा।
मणियंगा य अणियणा, सत्तमगा कप्परुक्खा य॥ ठाणं 7/65

में ही दसवें स्थान में दस प्रकार के वृक्षों का वर्णन है।¹ प्रवचनसारोद्धार² और समवायांग³ में भी दस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन है। जीवाजीवाभिगम⁴ में इन वृक्षों को एकोरुक द्वीपविशेष में बताया गया है। इन वृक्षों के नाम निम्नलिखित हैं—

1. मदाङ्गक—पौष्टिक तत्व देनेवाले वृक्ष
2. भृतांग—पात्र रूप में फल देनेवाले वृक्ष
3. त्रुटितांग—वीणा, पटह आदि वाद्यविधि से युक्त वृक्ष
4. दीपशिखा—विशेष ज्योतिर्मय वृक्ष
5. ज्योतिशिखा—सूर्य के समान प्रकाश देनेवाले वृक्ष
6. चित्रांग—माल्य विधियों से युक्त वृक्ष
7. चित्ररस—विविध प्रकार के भोजन देनेवाले वृक्ष
8. मण्यंग—मणि आदि के आभूषण देनेवाले वृक्ष
- 6 ; गेहाकार—मकान रूप में परिणत वृक्ष।
10. अनग्नक—वस्त्र देनेवाले वृक्ष

वर्तमान में शरीर का संस्थान और संहनन बहुत कमजोर हो गया। अनेक प्रकार के पौष्टिक पदार्थों का सेवन करने पर भी काल के प्रभाव से शारीरिक दुर्बलता बढ़ती जा रही है। यौगलिकों के समय में यह स्थिति नहीं थी। अन्यान्य दूसरे कारणों के साथ इसका एक यह भी कारण है कि उस समय जो मदाङ्गक नामक वृक्षविशेष थे, उनके फल पुष्टिकारक थे। वे वृक्ष चन्द्रप्रभा, मनः शिला, सिन्धु, वारुणी आदि विशेष प्रकार की मदिरा से युक्त, पत्र, पुष्प और फलों के निर्यास से घनीभूत, अनेक पौष्टिक द्रव्यों के मिलने से पुष्टिकारक आसव, मधु, मैरेयक अरिष्टन (मद्य विशेष), दूध

-
1. टाणं 10/142
 2. प्रवचनसारोद्धार द्वार 121
 3. समवायांग समवाय 10
 4. जीवाजीवाभिगमे प. 3/218 का पादटिप्पण (1)

जैसी कान्ति वाली प्रसन्ना, तेल्लक मदिरा, सताउ-आठ सौ बार धोने पर भी जिसकी गन्ध नहीं जाती ऐसी मदिरा, खजूर और द्राक्षा के सार से युक्त, सुपक्व सेलड़ी के रस के समान मनोज्ञ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवाली, बल, वीर्य की वृद्धि करनेवाली मदिराविशेष से युक्त 'मदांग' नामक वृक्ष उस क्षेत्र में सहज रूप से पैदा होते थे।¹ उनको उगानेवाला कोई नहीं था। समय आने पर वे पकते और उनमें स्राव भी होता था। उन फलों को उपयोग में लेने से मनुष्य स्वस्थ होते थे।

पशु-पक्षी वृक्षों के फूल-फल खाते हैं और नदी आदि में पानी पीते हैं। इसलिए उनको पात्र की अपेक्षा नहीं होती। मनुष्य पात्र में ही खाते-पीते हैं। आज जिन पद्धतियों से पात्रों का निर्माण होता है, उन तरीकों से आदिवासी मनुष्य परिचित नहीं थे। अतः वे वृक्षों के पत्ते काम में लेते थे। संभव है उस समय वृक्षों के पत्ते और शाखाएं बर्तनाकार ही होते थे। उन पत्तों को बर्तन का रूप दिया जाता था। पत्ते विभिन्न प्रकार के होते थे और जिन वृक्षों के पत्ते बर्तन के काम में आते उनका नाम 'भृतांग' था।

वे वृक्ष घट (मिट्टी का), कलश (पीतल का), करकरी (भोजन विशेष), पादकांचनिका (पैर धोने की सुवर्ण पात्री), उदक (पानी लेने का पात्र), भंगार (लोटा), सरक (बांस के पात्र) तथा मणि-रत्नों की रेखाओं से खचित विविध प्रकार के पात्र, पत्र और फलों के रूप में देनेवाला 'भृतांग' नामक वृक्ष-समूह स्वाभाविक पत्रों से युक्त था।²

मनुष्य आवश्यक कार्यों में प्रवृत्ति करता है। अपने लिए, समाज के लिए और राष्ट्र के लिए जो हितकर होता है, वह सब कुछ करता है। जब उन कार्यों से थकावट महसूस होती है तो वह मनोरंजन की सामग्री जुटाता है। नृत्य, वाद्य आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन हैं। आज का मनुष्य सिनेमा, दूरदर्शन आदि को मनोरंजन का साधन मानता है, किन्तु यह तो वैज्ञानिक युग की अपनी देन है। प्राग् ऐतिहासिक युग की मनोरंजन-सामग्री

1. जीवाजीवाभिगमे प. 3/218 का पादटिप्पण (1)

2. वही

में वादित्र का विशेष स्थान रहा है। उस समय विविध प्रकार के वादित्र प्रकृति-निष्पन्न थे।

जिस प्रकार मृदंग, पणव, दर्दरक, करटि, डिंडिम, ढक्का, मूरज, शंखिका, विपंची, महती, तल, ताल, कंसाल आदि आतोद्यविधि से युक्त गन्धर्व के नाटक करने में कुशल तथा आदि, मध्य और अन्त में उपयुक्त वादित्र का प्रयोक्ता दर्शकों को खुश कर लेता है, उसी प्रकार 'त्रुटितांग' नामक वृक्षसमूह भी स्वभाव से ही तत, वितत, घन, सुषिर आदि आतोद्य-विधि वाले फलों से युक्त था।¹ यौगलिक मनुष्य इन वृक्षों के द्वारा ही मनोरंजन किया करते थे।

आज विद्युत-ऊर्जा के द्वारा मनुष्य की प्रत्येक अपेक्षाएं पूरी हो जाती हैं। अन्धकार के समय विद्युत के प्रयोग से सूरज जैसा प्रकाश हो जाता है। किन्तु जब विद्युत का आविष्कार नहीं हुआ था तब प्रकाश के लिए 'मशाल' काम में ली जाती थी। सायंकाल के समय चक्रवर्ती राजा की छोटी-बड़ी मशालें प्रज्वलित होकर तिमिर का नाश करती थीं, वैसे ही विकसित स्वर्णमय पारिजात से वन प्रकाशित होता था। कनक, मणि, रत्नों से खचित उज्वल विचित्रवर्णी दण्डों वाली मशालों से अन्धकार को नष्ट करनेवाले उज्वल प्रकाश से अभिराम 'दीपशिखा' नामक वृक्ष-समूह था, जो उद्योत-विधिवाले फलों से परिपूर्ण था।²

सुषम-सुषमा आरे में अग्नि का अभाव था, लेकिन अग्नि की अपेक्षा किसी न किसी रूप में पूर्ण होती थी। अन्य सब कार्यों की तरह अग्नि का कार्य भी तत्कालीन वृक्ष ही करते थे। वे वृक्ष शरदकालीन सूर्य के समान निर्मल प्रकाशवाले, विद्युत के समान स्निग्ध और निर्धूम अग्नि की तरह चमकते थे। अग्नि में तप्त सुवर्ण, केसुक अशोक और जपा वृक्षों के विकसित पुष्प-समूह तथा मणिहारों की किरणों की तरह देदीप्यमान, जात्य हिंगुल के रंग से भी अधिक सुन्दर 'ज्योतिष्क' नामक वृक्ष-समूह था।³ अग्नि की तरह प्रकाशमान होने से जिस मार्ग में ये वृक्ष होते थे, वहां अन्धकार नहीं होता था।

1. जीवाजीवाभिगमे प. 3/218 पादटिप्पण (1)

2. वही

3. वही

कला का उद्भव मानव जाति के आदि इतिहास से जुड़ा हुआ है। किसी भी तथ्य की कलात्मक अभिव्यक्ति का नाम कला है। बोलना, लिखना, चित्र बनाना, उठना, बैठना आदि सारे कार्य कलात्मक ढंग से किए जाने पर ही व्यवस्थित रूप से हो सकते हैं। हालांकि यौगलिक मनुष्य सभ्यता, कला आदि शब्दों से अपरिचित थे, फिर भी कला का इतिहास हमें उस समय तक ले जाता है। आज प्रयोगों के द्वारा कला का विकास हो रहा है। उस समय वह स्वतः निष्पन्न थी। उस समय के चित्रमय वृक्ष ही कला के प्रतीक थे। उन वृक्षों का नाम 'चित्रांगक' था।

दर्शनीय मकान बहुत चित्रों से चित्रित होता है। सुन्दर कुसुममाला और विविधवर्णी फूलों से शोभित होता है। वैसे ही 'चित्रांगक' वृक्ष अनेक प्रकार की चित्र-विधि से युक्त थे।¹

भोजन हर प्राणी के लिए आवश्यक है। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन तैयार कर लेते हैं। अन्य प्राणियों को जिस रूप में जो कुछ मिलता है, वे उसी से सन्तुष्ट रहते हैं। अकर्मभूमि में उत्पन्न यौगलिक मनुष्य भोजन नहीं बनाते थे। आज पाक-कला विकसित हो चुकी है। नए-नए प्रकारों का आविष्कार हो रहा है। उस समय इसका उद्भव भी नहीं हुआ था। फिर भी मनुष्य भूखे नहीं रहते थे। पशुओं की तरह मनुष्य भी वृक्षों के फलों द्वारा उदर पूर्ति करते थे।

उस समय 'चित्ररस' नामक वृक्ष विविध प्रकार के फलों से युक्त थे। जिस व्यक्ति को जो फल रुचिकर लगता, उस फल से वह अपनी भूख शान्त करता था। वे वृक्ष कोई विशिष्ट प्रकार की भोजन-सामग्री नहीं देते थे। जैसे चक्रवर्ती राजा सुगन्धित व श्रेष्ठ कलमवाले सालि चावलों से खीर बनवाता है। विशिष्ट पदार्थों से मोदक बनवाता है। उनको खाकर हर व्यक्ति तृप्ति का अनुभव करता है। उसी प्रकार उन्नीस प्रकार के विशिष्ट भोजन-गुणों से युक्त 'चित्ररस' वृक्षों के फल आनन्दकारक होते थे।²

1. जीवाजीवाभिगमे प. 3/218 का पादटिप्पण (1)

2. वही

आभूषण पहनने की पद्धति भी अति प्राचीन है। यद्यपि आज की भांति उस समय स्वर्णकार नहीं थे। सोने और चांदी के आभूषण भी नहीं बनते थे। किन्तु यौगलिक युग के मनुष्य वृक्षों के फूल-पत्तों के आभूषण काम में लेते थे। इन्हीं के अनुकरण स्वरूप आज भी सौराष्ट्र आदि में फूलों के गजरे, शीर्षफूल आदि उपयोग में लिए जाते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में लिखा है—**आभरणोचितं रूपं आश्रमसुलभैः प्रसाधनैः विप्रकार्यतः।**¹ यहाँ आश्रम सुलभ का अर्थ वृक्षों के फूलों एवं पत्तों से निष्पन्न आभरणों से है।

ऋषि कण्व ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि शकुन्तला के लिए आभूषण लाओ। जब वे सुन्दर आभूषण लेकर उपस्थित हुए तो गौतमी ने पूछा—‘आभूषण कहां मिले?’ उन्होंने कहा—‘किसी वृक्ष ने मांगलिक रेशमी साड़ी दी, किसी ने पैरों में लगाने के लिए लाक्षारस दिया और कुछ वृक्षों ने नवीन किसलय रूपी कोमल हाथों से ये आभूषण दिए।’² इससे स्पष्ट होता है कि वृक्षों के आभूषण काम में लिए जाते थे।

यौगलिक युग में भी ‘मण्यंग’ नामक वृक्ष-समूह हार, अर्धहार, मुकुट, कुंडल, सूत्र, एकावलि, चूलामणि, तिलक, कनकावलि, हस्तामालक, केयूर, वलय, अंगूठी, मेखला, घण्टिका, नुपूर तथा कंचन, मणि, रत्नों से युक्त विशेष प्रकार के आभूषण फलों के रूप में देते थे।³

वर्तमान युग में जिस रूप में सामाजिकता का विकास हुआ है, प्राग् ऐतिहासिक युग में उसका यह रूप नहीं था। परिवार और समाज की किसी को चिन्ता नहीं थी और न सामाजिक सीमाएं भी थीं। फिर भी मनुष्य अकेले नहीं रहते थे। युगल साथ में पैदा होते और जीवनभर एक साथ रहते थे। उनके पास कोई निजी मकान या कुटिया नहीं थी। क्योंकि वे मकान बनाना जानते ही नहीं थे। आज तो पक्षियों को भी अपने लिए मकान तैयार करने पड़ते हैं। उस समय के मनुष्य भी इन कार्यों से निरपेक्ष थे। फिर भी वे आज

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 4 पृ. 89

2. वही, अंक 4 पृ. 90

3. जीवाजीवाभिगमे प. 3/218 का पादटिप्पण (1)

की तरह अट्टालिका, गोपुर, प्रासाद, एकशाल, द्विशाल, चतुर्शल, गर्भगृह, मोहनगृह, वलभीगृह, त्रिकोण, चतुष्कोण, नन्द्यावर्त, हर्म्य, पर्वताकार, कूटाकार, आपण, निर्यूह, अववरक, चन्द्रशाला आदि विविध प्रकार के मकानों में रहते थे। उनमें ऊपर चढ़ने-उतरने के लिए सीढ़ियां होती थीं, प्रवेश करने और निकलने के द्वार थे। परन्तु वे मकान पत्थर के नहीं थे। वृक्ष ही सहज रूप से इन आकारों में परिणत थे। आज जो वास्तुकला भिन्न-भिन्न रूपों में विकास पा रही है, संभवतः यह तत्कालीन 'गेहाकार' वृक्षों का ही अनुकरण मात्र है।¹

लज्जा मनुष्य का सहज धर्म है, इसकी रक्षा के लिए वस्त्र परिधान की परम्परा चली। इतिहासकारों ने लिखा है—'आदिवासी मनुष्य वस्त्र नहीं पहनते थे। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ, पहनना-ओढ़ना भी आवश्यक समझा गया' परन्तु वे लोग वस्त्र बनाने में दक्ष नहीं थे। न तो उस समय खेती की जाती थी और न कल-कारखाने ही थे, जिनसे वस्त्रों का निर्माण हो सके। उस युग के लोग वृक्षों की छाल के वस्त्र पहनते थे। जैन आगमों में कल्पवृक्षों द्वारा वस्त्र मिलने की जो बात है, वह इस तथ्य से भी पुष्ट होती है। संभव है उस समय वृक्षों के पत्ते और छाल इस तरह की होती होगी, जो पहनने-ओढ़ने के काम में आ सके।

उस समय आजिनक क्षौम, तनुक दुकूल, कौशेयक, चीनांशुक, श्लक्ष्ण, कल्याणक आदि वस्त्रविशेष, रक्त, पीत और श्वेत आदि वर्णों से चित्रित वस्त्र, मृगलोम वस्त्र, रल्लक वस्त्र आदि विविध प्रकार के वस्त्रों से युक्त 'अनग्नक' नामक वृक्ष थे।² **यैः जनाः नग्नाः न भवन्तीति अनग्नकाः**— इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वृक्षों के वस्त्र (छाल) पहनने के काम में आते थे। कुछ लोगों की मान्यता है कि पहले वस्त्र पहनने की पद्धति नहीं थी। कालान्तर में शीत-निवारण के लिए इनका प्रयोग होने लगा और आज वे सभ्यता के प्रतीक बन गए हैं।

1. जीवाजीवाभिगमे प. 3/218 का पादटिप्पण (1)

2. वही

कल्पवृक्ष का जहां यह अर्थ किया जाता है कि वे ईप्सित फल देनेवाले थे। वहां यह भी संभव है कि उस समय के मनुष्यों का जीवन स्वयं ही इतना सीधा-सादा और संयमित था कि वे उनका जीवन-यापन उन-उन वृक्षों के फलों से सहज रूप में कर लेते अथवा यह भी संभव है कि उन्हें उन वृक्षों के द्वारा जो मिलता था, वे उससे अपनी आवश्यकता के अनुसार वैसे उपकरण तैयार कर लेते थे।

आज भी अजमेर के पास एक ऐसा वृक्ष है, जिसे कल्पवृक्ष कहा जाता है। दक्षिण में ऐसे वृक्ष हैं जो गौ की तरह दूध देते हैं। उन वृक्षों के नीचे टिन के डिब्बे रख दिए जाते हैं। उस दूध के पाउडर से मोटर के टायर, टेलीफोन तथा रेडियो आदि के बॉक्स बनते हैं।

कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं, जिनसे मनुष्य के विचार प्रभावित हो जाते हैं। प्राचीन काल में ऋषि-मुनि प्रायः जंगलों में रहते थे। जंगलों में विशेष प्रकार के वृक्ष होते थे। उनमें कुछ वृक्ष ऐसे भी थे, जिनके फल आदि का सेवन करने से वासना पर सहज रूप में विजय हो जाती।

अमेरिका में भी ऐसे वृक्ष हैं जिन्हें मिलक ट्री, ब्रैड ट्री और लाइट ट्री आदि नामों से पुकारा जाता है।¹ इन वृक्षों के फल दूध, रोटी और प्रकाश के काम में आते हैं। अतः इस तथ्य को निस्सन्देह स्वीकार करना होगा कि प्राचीन काल में भी ऐसे वृक्ष थे, जो मनुष्य की हर आवश्यकता की पूर्ति करते थे।

इस्लाम धर्म में ऐसे वृक्षों को दरख्त या तोबे कहा जाता है और क्रिश्चियन धर्म में इन्हें स्वर्गीय वृक्ष की अभिधा दी गई है।²

आज भी वृक्षों के फल खाने-पीने के काम में और उसके पत्र, छाल आदि पहनने के काम में आते हैं। कई वृक्ष कांटेदार होते हैं। उनका भी बहुत बड़ा उपयोग है। साप्ताहिक हिन्दुस्तान में इसका उल्लेख करते हुए लिखा गया है—एक किस्म के वृक्ष ऐसे हैं, जिनकी शाखाएं छुरी या बर्छी जैसी हैं।

1. भरत-मुक्ति: एक अध्ययन पृ. 4

2. वही पृ. 4

मनमोहक होने के कारण लोग इनके पास जाते हैं, तब शाखाएं नीचे झुककर उनसे लिपट जाती हैं और खून चूसकर शरीर में सर्प जैसा विष फैला देती हैं। फलतः व्यक्ति मर जाता है। अफ्रीका में लोग अपराधी को दण्ड देने के लिए उन्हें इन वृक्षों के नीचे छोड़ देते हैं।

पेरू देश में एक प्रकार के वृक्ष हैं, जिनसे पानी झरता रहता है। ये वायुमण्डल की नमी को खींचकर जमा रखते हैं। गर्मी में इन वृक्षों से स्वतः पानी झरने लगता है। इससे यह जाना जाता है कि वृक्षों में एक विचित्र प्रकार की शक्ति होती है, जो सहज रूप से विभिन्न प्रकारों में परिणत होकर उपयोग में आती है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कल्पवृक्ष' कोई काल्पनिक वृक्ष नहीं है। इसका इतिहास जनश्रुतिमात्र नहीं, वास्तविक है। आज भी किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व सिद्ध करनेवाले प्रमाण मिलते हैं। काल की गहरी परतों से ओझल इन तथ्यों पर अनुसन्धान की अपेक्षा तो रहती ही है। अनुसन्धाताओं का ध्यान इस दिशा में केन्द्रित हो तो काल की परतों के नीचे दबे हुए सही तथ्यों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके बावजूद इसमें तो सन्देह का अवकाश ही नहीं है कि यौगलिक मनुष्य वृक्षों के आधार पर ही जीवन यापन करते थे।

11. मेधावी शब्द की अर्थयात्रा

मनुष्य यात्रा करता है और एक देश की सीमाओं को पार कर विदेश में पहुंच जाता है। समुद्र, पहाड़, नदियां आदि किसी समय उसकी यात्रा में बाधक रही होंगी, पर आज वे बाधाएं टूट गई हैं। मनुष्य की यात्रा से भी अधिक निर्बाध यात्रा शब्द करते हैं। वह यात्रा मनोरंजक भी होती है और आश्चर्यजनक भी। शब्दों का संसार बहुत विचित्र है। एक शब्द अनेक अर्थों का प्रतिनिधित्व करता है और एक अर्थ (पदार्थ) के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। एक शब्द आज जिस अर्थ का वाचक होता है, शताब्दियों बाद वह दूसरे अर्थ का प्रतिनिधि बन जाता है। कुछ शब्दों में अर्थ का अपकर्ष होता है और कुछ शब्दों में उत्कर्ष। शब्द की उत्पत्ति, उसका स्वरूप, अर्थ और अर्थ-परिवर्तन का अनुचिन्तन भाषा-विज्ञान के आधार पर हो सकता है। अन्यान्य विज्ञानों के साथ आज भाषा-विज्ञान भी विकास के नये-नये आयाम खोल रहा है। एक-एक शब्द पर विशेष शोध की जा रही है। किसी भी भाषा के समग्र ज्ञान के लिए भाषा-विज्ञान का सहयोग अपरिहार्य रूप से अपेक्षित होता चला जा रहा है।

प्रत्येक शब्द का अपना आर्थी परिवेश होता है। जो शब्द इस परिवेश से भटक जाते हैं, उनका अर्थ-बोध दुरूह हो जाता है। भारतीय भाषाओं में शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से परस्पर संक्रमण हुआ है। एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा की यात्रा में अपने वास्तविक अर्थ की परिक्रमा भी कर सकता है और नए अर्थ का परिधान भी पहन सकता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि किसी भी शब्द की अर्थयात्रा को समय की परतों के नीचे न दबाकर उजागर रखा जाए। इससे उसके अज्ञात स्वरूप का धुंधला क्षितिज

आलोकित होगा और भाषा-विज्ञान की नई-नई उपलब्धियों के सन्धित्सु लोग लाभान्वित होंगे।

जैनागमों का एक बहुप्रचलित शब्द है 'मेहावी'। इसका संस्कृत या हिन्दी भाषा का रूपान्तर है 'मेधावी'। सामान्यतः मेधावी शब्द विद्वान या मनीषी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रयोग के आधार पर मेधा, ज्ञान, विज्ञान, बुद्धि आदि शब्द एक ही श्रेणी में उपस्थित किए जाते हैं। मेधा और बुद्धि दोनों शब्द एक अर्थ के सूचक हैं। किन्तु इनके स्वरूप में जो अन्तर है, वह इनसे संपृक्त संदर्भों के द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। मेधावी शब्द का प्रयोग हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत भाषा के अनेक ग्रन्थों में हुआ है। वहां मेधावी शब्द को उसके अर्थ-बोध के साथ पारिभाषिक दृष्टि से भी विश्लेषित किया गया है। 'आयारो' के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इसका प्रयोग पचीस बार से अधिक हुआ है। भिन्न-भिन्न संदर्भ में की गई परिभाषा के आधार पर मेधावी शब्द को एक निश्चित परिभाषा देना प्रस्तुत निबन्ध की प्रस्तुति का उद्देश्य है।

मेधावी शब्द के प्रस्तुतीकरण से पहले उसकी पृष्ठभूमि के रूप में कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख किया जा रहा है, जो अपने आर्थी परिवेश से बिछुड़ गए हैं। संस्कृत भाषा का एक शब्द है—आडम्बर। जो हिन्दी भाषा में भी स्वीकृत है। हिन्दी में इसका प्रयोग प्रदर्शन के अर्थ में होता है। किन्तु संस्कृत और प्राकृत भाषा में इसका प्रयोग नगाड़ा वाद्य¹ के अर्थ में होता है। वाद्य शब्द तीव्रता और हाथियों के गर्जन² अर्थ में प्रयुक्त होता है। काव्यों में आडम्बर शब्द मेघगर्जन³ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। जैनागम अनुयोगद्वार के स्वर-मण्डल की चर्चा में बताया गया है कि आडम्बर (ढोल या नगाड़े) से धैवत स्वर निकलता है।⁴ वर्तमान में प्रचलित अर्थ-परम्परा स्वाभाविक रूप से अर्थों को अभिव्यक्ति नहीं देती।

1. अभिधान 3/463 पटहाडम्बरौ तुल्यौ।

2. नानार्थमञ्जरी, रघुदेव 8 तुर्यशब्दे च संसम्भः गजेन्द्राणां च गर्जिते।

3. भामिनीविलास 1/4 विधौ विधातुः मुचितो धाराधराडम्बरः।

4. अनुयोगद्वार सू. 301 आडम्बरो धेवइयं।

अनुयोगद्वार में तद्धितज नामों की व्याख्या में एक शब्द है 'दौषिक'। दूष्य-वस्त्र का व्यापार करनेवाला दौषिक कहलाता था।¹ उच्चारण की सरलता की दृष्टि से दौषिक शब्द दौषिक और धीरे-धीरे दोसी या डोसी की स्थिति तक पहुंच गया। वर्तमान में दोसी और डोसी शब्द गुजरात तथा राजस्थान में गोत्रविशेष से सम्बन्धित है। संभव है आगम-युग या उसके उत्तरकालीन समय में यह शब्द वस्त्र के व्यापारियों का वाचक रहा हो।

आमिष और मांस पर्यायवाची नाम है। किन्तु एक ही संदर्भ में इन दोनों शब्दों का प्रयोग इनके अर्थभेद का परिचायक है। आमिष शब्द के दूसरे अर्थ हैं—सरस, स्वादिष्ट, आसक्ति आदि। यहां आमिष शब्द का प्रयोग सरस अर्थ में हो सकता है। अनुयोगद्वार सूत्र के चूर्णिकार आचार्य जिनदास ने रेशमी वस्त्र निर्माण की प्रक्रिया बताते हुए लिखा है—पट्टसूत बनानेवाले व्यक्ति अरण्य में वृक्षों के समूहवाले स्थान में मांस और एक प्रकार के चावल(धान्य) को सरस बनाकर पुंजों में स्थापित कर देते हैं।² इस प्रकार के और भी अनेक शब्द हैं, जो किसी समय दूसरे अर्थ के वाचक थे और उनका वर्तमान सम्पर्क किसी दूसरे अर्थ से है। इस प्रकार के प्रत्येक शब्द पर विशेष शोध की अपेक्षा है।

पूर्वचर्चित मेधावी शब्द की अर्थमीमांसा दो प्रकार से की जा सकती है—शाब्दिक दृष्टि से और पारिभाषिक दृष्टि से। मेधावी शब्द की निष्पत्ति मेधा शब्द से होती है। मेधा उस बुद्धि का नाम है जो धारण करने में समर्थ है। तत्त्वज्ञान से संबंधित बुद्धि का नाम पण्डा है। मोक्षविषयक बुद्धि ज्ञान कहलाती है तथा जो बुद्धि शिल्प, चित्रकला आदि विज्ञान से सम्बन्ध रखती है, वह विज्ञान कहलाती है।

मेधा शब्द से संस्कृत व्याकरण के अनुसार मत्वर्थक प्रत्ययों के योग से दो रूप बनते हैं—मेधावी और मेधिर। मेधिर की अपेक्षा मेधावी शब्द अधिक

-
1. (क) अनुयोगद्वार हारिभद्रीया वृत्ति पत्र 74 दूष्यः पण्यमस्य
(ख) वही मलधारीया वृत्ति पत्र 138 दूष्यं पण्यमस्येति दौषिकः।
 2. अनुयोगद्वार चूर्णि पत्र 15
अरन्ने वणणिगुंजट्टाणे मंस चीडं वा आमिसं पुंजेसु ठविज्जइ।

प्रसिद्ध है। इसका प्रयोग आगम, काव्य, कथा आदि साहित्य की अनेक विधाओं में हुआ है। अधिकांश प्रयोगों का संबंध धारणाशील बुद्धि के साथ है। आगम-साहित्य में मेधावी दो प्रकार के बताए गए हैं—ग्रन्थ-मेधावी और मर्यादा-मेधावी। जो बहुश्रुत होता है, वह ग्रन्थ-मेधावी कहलाता है और मर्यादा के अनुसार चलनेवाला मर्यादा-मेधावी कहलाता है।¹

‘आयारो’ (आचारांग) में प्रयुक्त मेधावी शब्द ग्रहण-बुद्धि और धारणा-बुद्धि से युक्त व्यक्ति का वाचक है। फिर भी उसका संबंध मेरावाही (मर्यादावान) के साथ जोड़ा गया है।² उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो मर्यादित प्रज्ञा का अधिकारी है, वह मेधावी है।

गीता का मेधावी सब प्रकार के संदेहो को छिन्न कर अपनी मेधा को सार्थकता देता है।³

अनुयोगद्वार सूत्र में छेक, दक्ष, प्राप्तार्थ, कुशल, मेधावी, निपुण और निपुणशिल्पोपगत इन शब्दों का एक साथ प्रयोग है। वृत्तिकार ने मेधावी शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—एक बार श्रुत या दृष्ट कार्य को निष्पन्न करने की कला जाननेवाला व्यक्ति मेधावी होता है।⁴

मेधा शब्द की अर्थयात्रा प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रारम्भ होती है। यह प्रातिभ ज्ञान से विशिष्ट किसी अतिशायी ज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है। आगम-युग में इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में होता था। चूर्णियुग तक आते-आते वह श्रुतसंपन्न और मर्यादासम्पन्नता से संबद्ध हो गया। मर्यादा दो प्रकार की

1. दशवैकालिक जि. चू. पत्र 203

मेधावी दुविहो तं जहा—गंथमेधावी मेरामेधावी य।
तत्थ जो महंतं गंथं अहिज्जति सो गंथमेधावी।
मेरामेधवी णाम मेरा मज्जाया भण्णति।
तीए मेराए धावत्ति मेरामेधावी॥

2. आचारांग चूर्णि पत्र 24

मेधावी ग्रहणधारणसंजुतो, मेरावाहिणे अहिगारो।

3. श्रीमद् भगवद्गीता 18/10 मेधावी छिन्नसंशयः।

4. अनुयोगद्वार मलधारीया वृत्ति पत्र 163 मेधावी सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञः।

होती है—ग्रहणशीलता की मर्यादा और आचार की मर्यादा। ग्रहणशीलता का अर्थ धारणाशील प्रज्ञा से है और आचार का संबंध साधना की सीमाओं से है। तीसरे चरण में पहुंच कर मेधा बुद्धि-विलास की सूचक हो गई। यह मेधा शब्द के अर्थ का अपकर्ष है।

बौद्धिक सीमा से बंधा हुआ मेधावी शब्द आचारांग में बहुत व्यापक दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि वहां मेधावी शब्द को किसी अर्थविशेष से संयोजित नहीं किया गया, फिर भी जिन-जिन संदर्भों में वह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उनके आधार पर कुछ नए तथ्य सामने आ सकते हैं।

आयारो के प्रथम अध्ययन में मेधावी शब्द का प्रयोग आठ बार हुआ है। सात स्थलों के संदर्भ परस्पर अनुबंधित हैं, इस दृष्टि से वे एक-दूसरे के पूरक हैं। उन स्थलों का भावबोध अहिंसा की ऊंची भूमि का स्पर्श करता है। अहिंसा क्या है? वह कैसे होती है? किसके प्रति होती है? मनुष्य को हिंसा की प्रेरणा क्यों मिलती है? इस विश्लेषण के साथ वहां छह प्रकार के जीवों के प्रति अप्रमत्त रहने का निर्देश है। अप्रमत्त वही रह सकता है, जो जागरूक है। मेधावी साधक अपनी प्रवृत्ति से किसी भी प्राणी को पीड़ित न करे, न दूसरों के द्वारा करवाए और न ऐसा करनेवाले का समर्थन करे¹ उपर्युक्त तथ्यों को समझने के बाद मेधावी व्यक्ति संकल्प करता है—**इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाणं**—अब मैं वह नहीं करूंगा, जो मैंने प्रमादवश पहले किया है।²

1. आयारो : अध. 1, सूत्र 33, 64, 88, 116, 143, 176 दूष्यः पण्यमस्य।

2. आयारो : अध. 1, सूत्र 70

12. प्रमाण : एक तुलनात्मक अध्ययन

विश्वचेतना के बहुरंगी व्यक्तित्व को समझने के लिए मनुष्य के पास दो साधन हैं—

1. आत्मज्ञान
2. बौद्धिक चिन्तन

आत्मज्ञान पारदर्शी स्फटिक की भांति निर्मल होता है। उस पर विश्वचेतना के जो प्रतिबिम्ब उभरते हैं, उनमें संदिग्ध जैसा कुछ भी नहीं रहता। पर आत्मज्ञान की सर्वोच्च भूमिका तक आरोहण करनेवाले विरले ही होते हैं। इसलिए बौद्धिक चेतना की स्फुरण को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। बौद्धिक चेतना की सतह पर दर्शन का उदय होता है। दर्शन का उद्देश्य होता है—हेय-उपादेय की मीमांसा। इसके आधार पर मूल्य-निर्णय की दृष्टियां स्थिर होती हैं।

दर्शन की दो धाराएं हैं—सैद्धान्तिक और बौद्धिक। सैद्धान्तिक धारा का उत्स किसी परम्परा से अनुबन्धित रहता है और बौद्धिक धारा का बहाव उन्मुक्त होता है। भारतीय दार्शनिकों ने परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से दर्शन के क्षेत्र में नए आयाम खोले, उसी प्रकार वे बौद्धिक उत्कर्ष का स्पर्श करते हुए भी आगे बढ़े हैं। दर्शन का एक अंग है—न्याय। इसे तर्क-विद्या भी कहा जाता है। मीमांसा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमांसा न्यायशास्त्र का विषय है और हमारी वर्तमान चर्चा का भी यही विषय है।

न्याय

न्याय का अर्थ है युक्ति के द्वारा प्रमेय (वस्तु) की परीक्षा करना। युक्ति वहां घटित होती है, जहां साध्य और साधन में परस्पर किसी प्रकार का

विरोध न रहे। साध्य और साधन में विरोध उद्भावित करनेवाली युक्तियां प्रमेय के परीक्षण में सफल नहीं हो सकतीं। न्याय के मुख्यतः चार अंग हैं—

1. प्रमाता
2. प्रमाण
3. प्रमेय
4. प्रमिति

प्रमाता ज्ञाता होता है। प्रमाण ज्ञान है। प्रमेय वस्तु है और प्रमिति ज्ञान का फल है। प्रमाता प्रमेय की परीक्षा में या किसी भी प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है तो उसका हेतु होता है अर्थसिद्धि। अर्थसिद्धि के तीन प्रकार हैं—

1. असत् का प्रादुर्भाव।
2. इष्ट की प्राप्ति।
3. भावज्ञप्ति-भाव (पदार्थ) का अवबोध।

कुम्भकार मिट्टी खोदता है। मिट्टी को आकार देने के लिए चक्र, सूत्र आदि सहायक सामग्री जुटाता है। उसका पुरुषार्थ फलता है और घड़ा तैयार हो जाता है। यह असत् का प्रादुर्भाव है।

तालाब में पानी है। एक मनुष्य उधर से गुजरा। वह प्यास से व्याकुल था। उसने लोटा, बाल्टी आदि सहायक सामग्री के योग से जल प्राप्त कर अपनी प्यास बुझा ली। यह इष्ट वस्तु की प्राप्ति है।

मनुष्य चेतनाशील प्राणी है। अनावृत चेतना में संसार की हर वस्तु स्वतः प्रतिबिम्बित रहती है। आवृत चेतना में अवबोध के अनेक स्तर बन जाते हैं। अनावृत चेतना द्वारा और आवृत चेतना के यथासंभव अनावरण द्वारा वस्तु के ज्ञान का जो क्रम बनता है, वह भावज्ञप्ति है।

न्यायशास्त्र अर्थसिद्धि के इन तीनों उपायों में भावज्ञप्ति से ही सीधा सम्बन्धित है। भावज्ञप्ति के दो माध्यम हैं—लक्षण और प्रमाण। लक्षण व्यवच्छेदक होता है। वस्तु की व्यवस्था में हेतुभूत जो धर्म अपने लक्ष्य का व्यवच्छेद करता है, उसे दूसरी वस्तुओं से अलग करता है, वह लक्षण

कहलाता है। प्रमाण के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है और लक्षण निर्णीत स्वरूपवाली वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करता है। उष्णता अग्नि का लक्षण है, सास्ना-गलकम्बल गाय का लक्षण है, चैतन्य जीव का लक्षण है। यहां उष्णता और चैतन्य क्रमशः अग्नि और जीव के स्वभावगत धर्म हैं। सास्ना गाय का अवयवगत धर्म है।

प्रमाण की भांति लक्षण के भी दो रूप बनते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। ताप के द्वारा अग्नि का ज्ञान करना प्रत्यक्ष लक्षण है। जहां धूम के माध्यम से अग्नि का ज्ञान किया जाता है, वहां धूम अग्नि का परोक्ष लक्षण बनता है।

भारतीय दर्शनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। सामान्य वर्गीकरण में चार्वाक नास्तिक दर्शन है तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसक, वेदान्त, बौद्ध, जैन आदि आस्तिक दर्शन हैं। कुछ दार्शनिकों ने चार्वाक के साथ जैन और बौद्ध दर्शन को भी वेद-विरोधी होने के कारण नास्तिक दर्शनों में परिगणित किया है।

जैन दर्शन में न्याय के बीज आगम-साहित्य में उपलब्ध हैं। भगवती, स्थानांग, नन्दी, अनुयोगद्वार आदि आगम इसके साक्ष्य हैं। इनमें प्रमाण-विषयक चर्चा कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप में प्राप्त होती है। इस चर्चा का मूल उत्स ज्ञान-प्रवाद पूर्व रहा हो, ऐसा संभव लगता है। ज्ञान-विषयक इस चर्चा को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया जैन-आगम प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। अन्य दर्शनों के न्याय-ग्रन्थ संस्कृत में हैं। इस स्थिति में उमास्वाति आदि उस समय के आचार्यों के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे जैन-न्याय को भी संस्कृत में प्रस्तुत करें। जैन-न्याय उस युग के प्रबुद्ध विचारकों के सामने आया तब तक अन्य दार्शनिकों के न्याय-ग्रन्थ काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। ऐसी स्थिति में जैन दार्शनिकों पर यह विशेष दायित्व था कि वे न्याय के क्षेत्र में मौलिक स्थापना करके जैन-न्याय को विद्वज्जगत में प्रतिष्ठित करें, अन्यथा बहुचर्चित, बहुप्रचलित दार्शनिक मन्तव्यों के बीच में नवोदित जैन-न्याय पर किसी विद्वान का ध्यान आकृष्ट कैसे हो पाता ?

कोई भी दर्शन अपने अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत करने या स्थिर रखने के लिए कुछ मौलिक स्थापना करे, यह नितान्त अपेक्षित है। जैन दार्शनिकों ने सबसे विलक्षण स्थापना की अनेकान्तवाद की। अनेकान्तवाद दर्शन-जगत के लिए नया विषय था, इसलिए वह ऊहापोह और आकर्षण का केन्द्र बना। विद्वानों का ध्यान इस ओर केन्द्रित होने लगा। इस घटना ने परम्परावादी विद्वानों को चौंका दिया। उन्होंने अनेकान्तवाद के विरोध में लिखना शुरू कर दिया। दार्शनिक युग के प्रारम्भ में तर्कवाद का प्राबल्य था। उस समय दार्शनिक चर्चाओं के लिए अखाड़ेबाजी होती थी। उसमें ज्ञान-चर्चा का पक्ष गौण था और जय-पराजय की भावना मुख्य रूप से काम करती थी। यही कारण था कि न्याय-ग्रन्थों में छल, जाति, निग्रह-स्थान जैसे तत्त्वों को स्थान मिला।

भगवान महावीर का तत्त्व-निरूपण ज्ञान की उपलब्धि के लिए था। इसलिए उन्होंने न वितर्क को स्थान दिया और न ही छल, जाति आदि तत्त्वों को। भगवान महावीर स्वतन्त्र चिन्तन के पक्षपाती थे। उन्होंने अपने शिष्य-समुदाय को अपने केवलज्ञान की आलोक-धारा में अवगाहन कराया, किन्तु किसी भी शिष्य पर कोई चिन्तन थोपा नहीं। उनको सत्य का साक्षात्कार हो चुका था पर सत्य-संधित्सु शिष्या को अपने आलोक में सत्य का दर्शन नहीं कराया। तत्त्व का सम्यक प्रतिपादन कर उन्होंने कहा—मइमं पास मतिमान! मैंने जो कुछ कहा है, वह पूर्णरूप से ज्ञात, दृष्ट और परीक्षित है, किन्तु तुम इस पर चिन्तन करो। अपने विवेक के तराजू पर इसे तोलो। ऐसा करके ही तुम सत्य के साथ सीधा सम्पर्क कर सकते हो।

भगवान महावीर ने जो कुछ कहा, गणधरों ने उसका संकलन किया। वर्तमान में भगवान महावीर की वाणी का जो संकलन हमें उपलब्ध है, वह गणधर सुधर्मा का है। उस सम्पूर्ण संकलन को 'जैन वाङ्मय' के रूप में पहचाना जाता है। इसकी मुख्य चार शाखाएं हैं—

1. द्रव्यानुयोग
2. चरणकरणानुयोग
3. गणितानुयोग
4. धर्मकथानुयोग

इनमें जैन न्याय का प्रवेश द्रव्यानुयोग में होता है। जैन न्याय का विषय बहुआयामी है। प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारा समालोच्य विषय है—प्रमाण।

प्रमाण

प्रमाण को अनेक दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित किया है। कुछ दार्शनिक इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष मात्र को प्रमाण मानते हैं। कुछ दार्शनिक अर्थ की। उपलब्धि में हेतुभूत तत्त्व को प्रमाण मानते हैं। जहां स्व-पर-प्रकाशक प्रत्यक्षादि ज्ञान प्रमाण की संज्ञा प्राप्त करते हैं, वहां 'यथार्थज्ञानं प्रमाणम्'—यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। इस छोटी-सी परिभाषा में वे सारी अपेक्षाएं समाहित हो जाती हैं, जो अन्य-अन्य विशेषणों से परिभाषित की जाती हैं। बौद्ध दार्शनिक सारूप्य और योग्यता को प्रमाण मानते हैं। प्रमाण की निरुक्ति कई प्रकार से की जाती है—

- प्रमिणोति इति प्रमाणम्।
- प्रमीयतेऽनेन तत् प्रमाणम्।
- प्रमितिमात्रं प्रमाणम्।

विभिन्न दार्शनिक प्रमाण की भिन्न-भिन्न परिभाषा करते हैं—

- आचार्य विद्यानन्द ने व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।
- आचार्य अकलंक अनधिगत अर्थग्राही ज्ञान को प्रमाण मानते हैं।
- माणिक्य नन्दी अपूर्व अर्थबोधक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।
- वादिदेवसूरि की दृष्टि में स्व-पर-व्यवसायी ज्ञान प्रमाण है।
- आचार्य हेमचन्द्र सम्यक अर्थनिर्णीति को प्रमाण की परिधि में सम्मिलित करते हैं।
- न्याय-वैशेषिक और मीमांसक धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं।
- आचार्यश्री तुलसी ने प्रमाण की उक्त सभी परिभाषाओं का सार संगृहीत कर एक नई परिभाषा दी-यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञान के साथ यथार्थ विशेषण इस तथ्य को सूचित करता है कि ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रमाण वही ज्ञान है, जो यथार्थ है। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि ज्ञान के माध्यम हैं, पर ये यथार्थ नहीं हैं। अतः अप्रमाण हैं।

यहां प्रश्न यह उठता है कि प्रमाण का आधार प्रमाता है। प्रमाता का दृष्टिकोण सही है तो उसका ज्ञान अप्रमाण कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न को दो प्रकार से उत्तरित किया जा सकता है। हमारे आचार्यों ने अयथार्थ ज्ञान के दो रूप माने हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक।

आध्यात्मिक अयथार्थ ज्ञान (विपर्यय और संशय) का संबंध मोहनीय कर्म के उदय से है। आध्यात्मिक विपर्यय मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से होता है और आध्यात्मिक संशय मिश्र मोहनीय के उदय से होता है।

व्यावहारिक अयथार्थ ज्ञान समारोपात्मक ज्ञान है। यह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होता है। इस उदयजनित अवस्था को भी विपर्यय और संशय का रूप दिया जा सकता है।

प्रमाण की संख्या के बारे में सब दार्शनिक एकमत नहीं हैं। इसका कारण है—उन-उन दार्शनिकों की परम्परागत सैद्धान्तिक धारणाएं। उन धारणाओं के आधार पर प्रमाण संख्या का क्रम इस प्रकार बनता है—

नास्तिक	1. प्रत्यक्ष
वैशेषिक	2. प्रत्यक्ष, अनुमान
सांख्य	3. प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम
नैयायिक	4. प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान
मीमांसक (भट्ट)	5. प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति
मीमांसक (प्रभाकर)	6. प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव
जैन	7. प्रत्यक्ष, परोक्ष
पौराणिक	8. प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य।

प्रमाण के संदर्भ में यह संख्या-भेद चिंतन-भेद का प्रतीक है। वस्तुतः पदार्थ के प्रति ज्ञान के सही व्यापार का नाम प्रमाण है। इस दृष्टि से प्रमाण एक ही है, किंतु अवबोध की प्रक्रिया के भेद से प्रमाण के एकाधिक भेद स्वतः प्राप्त हैं। यदि हम विलयीकरण की दृष्टि से सोचें तो लगभग प्रमाण एक-दूसरे में अन्तर्गर्भित हो सकते हैं। उपमान प्रमाण सादृश्य प्रत्यभिज्ञा में समाविष्ट हो जाता है। अर्थापत्ति अनुमान प्रमाण का अंग है। अभाव का समावेश स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क अनुमान आदि प्रमाणों में हो जाता है। संभव प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत आता है। ऐतिह्य के दो रूप हैं—यथार्थ और अयथार्थ। अयथार्थ ज्ञान अप्रमाण है। यथार्थ प्रवाद-परम्परा आगम में अन्तर्निहित इन सबका संक्षेपीकरण करें तो इनमें से कुछ का समावेश सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष में और शेष का परोक्ष में हो जाता है। जैन दर्शन में प्रमाण-वर्गीकरण में ज्ञान की भूमिका महत्वपूर्ण है। ज्ञान पांच हैं—

1. मतिज्ञान
2. श्रुतज्ञान
3. अवधिज्ञान
4. मनःपर्यवज्ञान
5. केवलज्ञान

इनमें अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये तीन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मति और श्रुत परोक्ष प्रमाण हैं।

दूसरे अभिक्रम में प्रत्यक्ष के दो भेद किए जाते हैं—सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है तथा अवधि ज्ञान और मनःपर्यवज्ञान विकल या अपूर्ण प्रत्यक्ष हैं।

प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष प्रमाण के दो और भेद किए गए हैं—

1. पारमार्थिक प्रत्यक्ष
2. सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष

पारमार्थिक प्रत्यक्ष आत्मसापेक्ष होता है और सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष आत्मा एवं ज्ञातव्य पदार्थ के बीच में व्यवधान रखता है। व्यवधान से

होनेवाला ज्ञान परमार्थतः परोक्ष होता है। पर प्रत्यक्ष की परिभाषा व्यापक होने के कारण उसमें उसका समावेश कर लिया गया है। प्रत्यक्ष का निरुक्त है—अक्षम् इन्द्रियं, अक्षो जीवो वा, अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्। इस निरुक्त से इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष में अन्तर्गर्भित हो जाता है। भगवती सूत्र में ज्ञान के साथ प्रमाण की भी चर्चा है। वहां नैयायिक सम्मत चार प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान का उल्लेख है।

स्थानांग में प्रमाण के स्थान पर हेतु शब्द प्रयुक्त हुआ है। हेतु (प्रमाण) की संख्या भगवती की भांति चार ही रखी गई है।

चरक में हेतु शब्द के प्रयोग से चार प्रमाण बताए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य और औपम्य।

स्थानांग में प्रमाण को अति व्यापक प्रस्तुति देते हुए उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार भेद किए गए हैं।

कुछ ग्रंथों में प्रमाण के स्थान पर व्यवसाय शब्द का प्रयोग हुआ है। न्यायावतार में प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और आनुगात्मिक—इन तीन व्यवसायों का उल्लेख है। स्थानांग सूत्र के तीसरे स्थान में व्यवसाय के इन्हीं तीन भेदों का उल्लेख है।

भेदपरक बुद्धि के द्वारा हम कितने ही भेदों की परिकल्पना करें। इन सबमें सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए अभेद की और गति करनी ही होगी। अभेद बुद्धि में न किसी के प्रमाण का निरसन है और न कोई खींचातानी।

प्रत्यक्ष और परोक्ष में किसी भी प्रमाण की अवस्थिति हो सकती है। इस दृष्टि से यह जैन न्याय की विलक्षणता है।

अन्य दार्शनिक स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, आगम और अनुमान प्रमाण के प्रामाण्य में संदिग्ध थे। उस स्थिति में जैन दर्शन ने इन सबको परोक्ष प्रमाण में स्वीकृति देकर अपनी उदारता और समन्वयमूलक दृष्टि का परिचय दिया है।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम ने संशय, विपर्यय को तो अप्रमाण माना ही है, इसके साथ ही स्मृति, तर्क आदि को भी अप्रमाण माना है। उनके अभिमत से यथार्थ स्मृति और तर्क प्रमाण हैं तथा अयथार्थ स्मृति और तर्क

अप्रमाण हैं। जैनदर्शन ने प्रमाण की परिभाषा में ही यथार्थ शब्द योजित कर दिया। अतः अयथार्थ को प्रमाण मानने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता।

प्रमाण की उपयोगिता के संदर्भ में उसके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। ज्ञानात्मक प्रमाण स्वार्थ होता है और वचनात्मक परार्थ। इस परिभाषा से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं, क्योंकि इनका उपयोग केवल अपने लिए होता है। श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों है।

श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत। अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य अर्थापत्ति, संभव और अभाव प्रमाण श्रुतज्ञान के अन्तर्गत हैं। ये स्वप्रतिपत्ति काल में अनक्षर श्रुत में आते हैं और परप्रतिपत्ति काल में अक्षर श्रुत में चले जाते हैं।

ज्ञान को प्रमाण मानकर उसके भेद-प्रभेदों की लम्बी चर्चा की गई है। पर कुछ आचार्यों ने ज्ञान और ज्ञानी में अभेद कल्पना करके ज्ञानी को ही प्रमाण कह दिया। निर्वाध-बोध-विशिष्ट-आत्मा अर्थात् संशय, विभ्रम और विमोह से ऊपर उठी हुई आत्मा वस्तु का यथार्थ ज्ञान करती है और वह ज्ञान-स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान है। यथार्थ होने के कारण वह सत्य ही होता है, किन्तु उसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए कुछ हेतुओं की अपेक्षा रहती है। तथ्य के साथ सांगत्य, अबाधितत्व, अप्रसिद्ध-अर्थख्यापन या अपूर्व-अर्थप्रायण, अविस्वादित्व या संवादी-प्रवृत्ति, प्रवृत्ति-सामर्थ्य या क्रियात्मक-उपयोगिता ये सब हेतु हैं, जो दार्शनिकों द्वारा सम्मत रहे हैं।

प्रमाण (ज्ञान) के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है और निर्णीति स्वतः तथा परतः दोनों प्रकार से होती है। उत्पत्ति में निमित्त सामग्री प्रामाण्य और अप्रामाण्य का आधार बनती है। गुणात्मक सामग्री प्रामाण्य और दोषात्मक सामग्री से अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है।

प्रामाण्य का निश्चय स्वतः भी हो सकता है और परतः भी। अभ्यास की परिपक्वता में वस्तु-ज्ञान के साथ ही निश्चय हो जाए कि मेरा जानना

सही है, यह स्वतः निश्चय है। जहां अपने ज्ञान के प्रति पूरा भरोसा नहीं होता, वहां उसकी सत्यता प्रमाणित करने में संवादी प्रमाण अथवा बाधक के अभाव से प्रामाण्य का निर्णय होता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रमाणों का मौलिक वर्गीकरण इस प्रकार होता है—प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण वह होता है जो सहाय-निरपेक्ष होता है। उसके दो भेद हैं—व्यवहार प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। व्यवहार प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा।

अवग्रह में वस्तु का सामान्य अवबोध होता है। संशय के उत्तरकाल में अन्वयव्यतिरेकात्मक निर्णयोन्मुख ज्ञान को ईहा कहते हैं। निर्णयात्मक ज्ञान अवाय है और चेतना में उसकी अवस्थिति धारणा है। ये चारों क्रमिक होते हैं और उत्तरोत्तर विशद ज्ञान के निमित्त हैं। परमार्थ प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। सकल प्रत्यक्ष पूर्ण है, यह केवलज्ञान है। विकल प्रत्यक्ष अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। परोक्ष प्रमाण वह है, जिसका ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग से होता है। वह द्विविध है—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान—ये मतिज्ञान के चार भेद हैं।

जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन में स्मृति आदि का प्रामाण्य नहीं है। नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते।

प्रत्यभिज्ञा के चार रूप हैं—

1. एकत्व प्रत्यभिज्ञा
2. सादृश्य प्रत्यभिज्ञा
3. वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञा
4. प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा

बौद्धदर्शन तर्क को अप्रमाण मानता है। नैयायिक इसको प्रमाण के अनुग्राहक रूप में स्वीकार करते हैं। जैन तर्कपद्धति में यह परोक्ष प्रमाण का एक भेद है।

प्रमाण चर्चा के प्रसंग में अनुमान का स्थान महत्वपूर्ण है। इसमें तर्कशास्त्र के बीज अंकुरित होकर अपने अस्तित्व को दृढ़ता प्रदान करते हैं। अनुमान की पांच धाराएं हैं—पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन। स्वार्थानुमान में पक्ष और हेतु—इन दो से ही काम चल जाता है। किन्तु परार्थानुमान में दृष्टान्त, उपनय और निगमन का भी सहारा लेना होता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण पंचात्मक हो जाता है।

अनुमान प्रमाण परोक्ष ज्ञान का अंग है। परोक्ष ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के साथ अनुबन्धित है। छद्मस्थ व्यक्तियों के पदार्थज्ञान का माध्यम यही बनता है। कुछ विचारक परोक्ष ज्ञान को इन्द्रियग्राही और अविशद होने के कारण अप्रमाण मानते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान् इसे प्रमाण मानने के पक्ष में हैं। क्योंकि पदार्थज्ञान में पराधीन होने पर भी यह प्रत्यक्ष ज्ञान जितना ही सुदृढ़ होता है, अर्थ की निर्णीति का माध्यम बनता है। अतः परोक्ष ज्ञान के प्रामाण्य में सन्देह का अवकाश नहीं है।

परोक्ष ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा गया है—परदो विष्णाणं परोक्षं। जो ज्ञान पर द्रव्य, अन्तःकरण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार, प्रकाश आदि बाह्य निमित्तों के योग से प्राप्त होता है, वह परोक्ष ज्ञान है॥

इन्द्रियज्ञान व्यवहार में प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत होता है, किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से वह परोक्ष है। उसका परोक्षत्व केवलज्ञान की अपेक्षा से है।

प्रत्यक्ष ज्ञान असहाय होता है। उसे वस्तु के अवबोध में किसी अन्य साधन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। प्रत्यक्ष ज्ञान के सकल, विकल, पारमार्थिक, सांख्यव्यवहारिक, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि भेदों के साथ सैद्धान्तिक दृष्टि से भी दो भेद हैं—क्षायिक प्रत्यक्ष और क्षायोपशमिक प्रत्यक्ष।

केवलज्ञान क्षायिक प्रत्यक्ष है। इसमें ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होता है। आवरण के सम्पूर्ण क्षय से सर्वग्राही ज्ञान अनावृत हो जाता है। केवलज्ञान की तुलना में अन्य सभी ज्ञान विकल हैं। अतः सकल प्रत्यक्ष की संज्ञा का

अधिकारी एकमात्र केवलज्ञान ही है। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान को विकल इस दृष्टि से कहा जाता है कि ये मूर्त और अमूर्त सब द्रव्यों तथा पर्यायों के अवबोधक नहीं बनते। ये दोनों ज्ञान अपारमार्थिक ज्ञान नहीं हैं। इनका विषय है मूर्त द्रव्यों और पर्यायों का अवबोध करना। अपने विषय के ग्रहण में इनकी किंचित भी अक्षमता नहीं है, इसलिए ये पारमार्थिक ज्ञान हैं। इस संदर्भ में पारमार्थिकता का अर्थ सब अर्थों को अपना विषय बनाना नहीं है, किंतु जो अपना विषय है, उसकी परिपूर्णता और निर्मलता है। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान अपने विषय की पूर्ण निर्मलता में प्रतिष्ठित हैं, अतः दोनों पारमार्थिक हैं।

पारमार्थिक ज्ञान के प्रसंग में यह बताया गया है कि इन्द्रिय और मन-निरपेक्ष ज्ञान पारमार्थिक है। एक प्रश्न उठ सकता है कि उपकरण-सामग्री के अभाव में ज्ञान कैसे हो सकता है? क्या कोई शिल्पी छैनी के बिना मूर्ति को तराश सकता है? चित्रकार तूलिका के बिना चित्र बना सकता है? लेखक कलम के बिना लिख सकता है? सामान्यतः ये तर्क सही प्रतीत होते हैं। प्रतिमा, चित्र और लेखन के लिए छैनी, तूलिका, कलम आदि साधन-सामग्री अपेक्षित रहती हैं। पर विशिष्ट व्यक्ति अपनी साधना के बल से संकल्प के द्वारा भी इन वस्तुओं को निर्मित कर सकते हैं। इसी प्रकार साधारण आत्माएं इन्द्रियों और मन के सहयोग के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं, किंतु जिन आत्माओं के ज्ञानावरण का क्षय या विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है, वे इन्द्रिय और मन आदि बाह्य सामग्री के सहयोग के बिना भी स्वसापेक्ष संपूर्ण अवबोध की यात्रा कर सकती हैं।

13. अनुमान और उसके प्रकार

प्रत्येक दर्शन-परम्परा काल और नई स्थापना—इन दो दृष्टियों से अपना महत्त्व अभिव्यञ्जित करती है। काल की प्राचीनता का जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व है नई स्थापनाओं का। कालक्रम की दृष्टि से जैन न्याय को अर्वाचीन माना जाता है। इसीलिए जैन न्याय प्रणेताओं के सामने यह समस्या आई कि वे नौ सौ या सात सौ वर्षों बाद जिस न्याय के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, वहां कोई नई देन दे या पूर्व दार्शनिकों का अनुकरण करें। यदि ऐसा नहीं होता है तो उनके विचारों को आदर मिलना मुश्किल है।

दार्शनिक क्षेत्र में जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों के अपने-अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। उन ग्रन्थों में किसने किसका अनुकरण किया, यह तथ्य आज भी विवादास्पद है। जैन दर्शन का मूल स्रोत भगवान ऋषभ हैं, जो इतिहास की आंखों से ओझल हैं। वर्तमान में उपलब्ध सामग्री पर भगवान महावीर का प्रभाव है। भगवती, स्थानांग और अनुयोगद्वार में न्याय-विषयक विकीर्ण तथ्य पाए जाते हैं।

स्वतन्त्र रचना की दृष्टि से वैदिक साहित्य का काल लम्बा है। ई.पूर्व छठी शताब्दी में गौतम, कणाद आदि ने न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, वेदांत-सूत्र और ब्रह्म-सूत्र का प्रणयन किया। ई. पूर्व चौथी शताब्दी में बौद्ध परम्परा के आचार्य दिङ्नाग ने 'प्रमाण समुच्चय' की रचना की और जैन परम्परा में ई. की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' का निर्माण किया। गौतम और उमास्वाति के बीच में नौ शताब्दी का अन्तर है। इस दृष्टि से जैन न्याय का उद्भव भले ही बाद में माना जाए, किन्तु न्याय के मूल तत्त्व जैन दर्शन के प्रारंभ से ही जुड़े हुए हैं।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि जैन न्याय ने संसार को नवीनता नहीं दी। डॉ. कीथ ने लिखा है—‘जैन दर्शन का विकास न होने का मूल कारण है उसका प्राचीनता पर विश्वास। मूल रूप में जो तत्त्व मिले, उनमें किसी प्रकार का संशोधन न होने से जैन न्याय आज भी पिछड़ा हुआ है।’

इस कथन में पूर्ण सत्यता प्रतीत नहीं होती स्याद्वाद और नयवाद को आधार मानकर जैन आचार्यों ने जो कुछ लिखा, वह मौलिक चिन्तन दूसरे दर्शनों में नहीं मिलता। इस न्याय-शैली का उल्लेख आगमों में ही स्पष्ट हो जाता है। पर स्वतन्त्र रूप में ग्रन्थ-रचना सिद्धसेन और समन्तभद्र द्वारा पांचवीं, छठी शताब्दी में की गई, जिनके ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र की भांति श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों को मान्य हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने अपनी कृति ‘न्यायावतार’ में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण रखकर जैन-न्याय को नया मोड़ दिया है। इससे पहले प्रमाण के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ये पांच भेद किए जाते थे।

न्याय-शास्त्र में अनुमान एक प्राणवान तत्त्व है। खण्डन-मण्डन में व्याप्ति का जो मूल्य है, वह किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं है। किसी भी पदार्थ का एकदेशीय ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। लेकिन सर्वांगीण जानकारी के लिए अनुमान को आधार मानना पड़ता है। जैसे—एक श्वेत वस्त्र है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक दृश्य पदार्थ में पांच वर्ण होते हैं। वस्त्र का श्वेत रंग हमारी आंखों के सामने है। पर उसके अन्य वर्ण अनुमानगम्य हैं।

साधनात् साध्यज्ञानमनुमानम्—अनुमान की इस परिभाषा में दार्शनिकों का मतभेद नहीं है, लेकिन इसकी प्रामाणिकता और भेद-प्रभेदों में अन्तर पड़ता है। बौद्ध अनुमान को वास्तविक प्रमाण नहीं मानते, प्रत्यक्ष का निर्वाहक मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसक अनुमान को प्रत्यक्ष की तरह ही प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन ने प्रमाण के मुख्य दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के प्रकारों में अनुमान का महत्वपूर्ण स्थान है।

नैयायिकों ने अनुमान के तीन भेद माने हैं—पूर्ववत, शेषवत और सामान्यतोदृष्ट।

1. **पूर्ववत**—कारण से कार्य का ज्ञान होना पूर्ववत अनुमान है। जैसे—भ्रमर, भैंसा, हाथी (सर्प) और तमाल वृक्ष की तरह काली आभावाले मेघ वृष्टि के सूचक हैं। यहां मेघों की कालिमा कारण है और वर्षा कार्य है।

2. **शेषवत**—कार्य से कारण को जानना शेषवत अनुमान है। जैसे—नदी के प्रवाह रूप कार्य को देखकर वृष्टि का ज्ञान करना। वृष्टि नदी-पूर का कारण है, पर प्रवाह को देखकर जाना जाता है कि मेघ बरसा है।

3. **सामान्यतोदृष्ट**—पूर्व दृष्ट समान धर्म से किसी अप्रत्यक्ष तथ्य को जानना। जैसे—पुरुष एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है तो गति करता है। वैसे ही सूर्य भी आकाश में इस छोर से उस छोर तक पहुंच जाता है। उसका इधर से उधर पहुंचना गति-सापेक्ष है। यद्यपि उसकी गमनक्रिया पुरुष के गमन की तरह व्यक्त नहीं है। फिर भी सामान्यतः देखी हुई बात में विपर्यय नहीं होता। अतः सूर्य भी गति करता है। जैन न्याय के अनुमान-परिवार में स्वार्थ और परार्थ ये दो भेद तो किए ही हैं। इनके अतिरिक्त तीन भेद फिर माने हैं। पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्य। इनमें पहले दोनों भेद नैयायिकों से शब्द-साम्य रखते हैं, पर अर्थ में एकरूपता नहीं रही और तीसरे भेद में तो नाम साम्य भी नहीं है। अनुयोगद्वार के आधार पर इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

पूर्ववत—बचपन में कहीं खोए हुए पुत्र को युवावस्था में प्राप्त होने पर किसी पूर्व चिह्न के द्वारा माता उसे पहचान लेती है, उसे पूर्ववत कहते हैं।

-
1. रोल्म्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥ षड्दर्शन-20
 2. कार्यात् कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम्।
तथाविधनदीपुरान्मेघो वृष्टो यथोपरि॥ षड्दर्शन-21
 3. यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं गतिपूर्विका।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा॥ षड्दर्शन-21
 4. से किं तं अणुमाणे? अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं।
अनुयोगद्वार-519

जैसे किसी क्षत, व्रण, लक्षण, मश या तिल देखकर निर्णय कर लेना कि यह मेरा ही पुत्र है।¹

2. शेषवत—शेषवत अनुमान पांच प्रकार का है। कार्य, कारण, गुण, अवयव और आश्रय।²

1. कार्य से कारण का अनुमान—शब्द सुनकर शंख का अनुमान करना, हिनहिनाने से घोड़े का ज्ञान करना।

2. कारण से कार्य का ज्ञान—तन्तुओं से पट का ज्ञान करना, मिट्टी से घड़े का ज्ञान करना और काले बादलों से वर्षा का अनुमान करना।

3. गुण से गुणी का अनुमान—निकष पर कसने से सोने का ज्ञान करना और गन्ध से फूलों का ज्ञान करना।

4. अवयव से अवयवी का ज्ञान—श्रृङ्ग से महिष का ज्ञान करना, विषाण से हाथी का, नखों से व्याघ्र का और बालाग्र से चमरी गाय का ज्ञान करना।

5. आश्रय से आश्रयी का अनुमान—धूम से अग्नि का बोध करना, अभ्र-विकार से वर्षा का अनुमान लगाना और शील-गुण तथा सदाचार से सुपुत्र का बोध करना।

3. दृष्टसाधर्म्य—पूर्व उपलब्ध अर्थ के साधर्म्य से वर्तमान में किसी को जानना। इसके दो भेद हैं—सामान्य दृष्ट और विशेष दृष्ट।

1. सामान्य दृष्ट—एक पुरुष को देखकर अनेक पुरुषों का ज्ञान करना और अनेक पुरुषों के साधर्म्य से एक पुरुष को जानना।³

2. विशेष दृष्ट—किसी पूर्व दृष्ट पुरुष को परिषद के बीच में पहचान लेना। बहुत से रूपों में पूर्व परिचित कार्षापण को पहचान लेना।⁴

-
1. माया पुत्तं जहा नट्टं, जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वल्लिगेण केणई॥ अनु.-520
 2. से किं तं सेसवं? पंचविहं पण्णत्त, तं जहां-कज्जेणं,
कारणेणं, गुणेणं, अवयवेणं, आसएणं। अनु.-521
 3. जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा-अनु. 528
 4. से जहाणामए केइ पुरिसे बहूणं पुरिसाणं मज्जे पुव्वदिट्ठ पुरिसं
पच्चभिजाणेज्जा-अयं से पुरिसे। अनु. 529

अनुमान का ग्रहण तीन प्रकार से होता है। अतीतकाल ग्रहण, वर्तमानकाल ग्रहण और भविष्यकाल ग्रहण।

1. **अतीतकाल ग्रहण**—उगे हुए तृणों को देखकर कहना वृष्टि हुई थी। शस्य-श्यामला पृथ्वी और जल-परिपूर्ण सरोवर वृष्टि के कार्य हैं।

2. **वर्तमानकाल ग्रहण**—गोचरी के लिए आया हुआ मुनि गृहस्थों द्वारा विशेष भोजन, पानी आदि का आग्रह देखकर सोचता है, अभी सुभिक्ष्य है।

3. **अनागतकाल ग्रहण**—सविद्युत मेघ आदि प्रशस्त हेतुओं को देखकर कहना वृष्टि होगी।

इनके विपर्यास से सूखी पृथ्वी और सूखे सरोवरों से अवृष्टि का अनुमान होता है। भिक्षा सुलभ न होने पर दुर्भिक्ष का और साफ आकाश देखकर भविष्य में वृष्टि नहीं होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है।

इस विवेचन से लगता है कि अनुमान का यह अपूर्व रूप जैनों का अपना दृष्टिकोण है। नैयायिकों ने अनुमान के जो तीन भेद किए हैं, वे इसी विवेचन का संक्षेपीकरण है। उन तीनों ही प्रकारों में कोई नवीनता नहीं है। जैन-अनुमान के विवेचन से अपना पार्थक्य बताने के लिए अर्थों में थोड़ा-सा भेद डाला गया है। इसी तरह और तथ्य भी मिल सकते हैं, जो जैन न्याय की मौलिकता को प्रकाश में ला सकें। वे सब अन्वेषण मांगते हैं। अन्वेषक इस दिशा में प्रयास करें तो संसार को नई देन दे सकते हैं।

1. तस्स समासओ तिविहं गहणं भवइ, तं जहां अतीयकालगहणं,
पडुपण्णकालगहणं, अनागतकालगहणं—अनु. 530

14. आगम-साहित्य में कहानी व अकहानी

वैज्ञानिक यान-वाहनों से भी अधिक द्रुतगामी है आज का साहित्य-जगत। आज के मूल्यांकन, अर्थबोध और शब्द-विन्यास आनेवाले कल तक उखड़ते हैं और नए मूल्य प्रतिष्ठित हो जाते हैं। क्योंकि नवीनता का युग है।

जो व्यक्ति अपने शब्दों को जितने नए ढंग से प्रस्तुत करता है, वह उतना ही अधिक चर्चा का विषय बनता है। आधुनिक साहित्य-बोध का कलाकार भी नएपन के व्यामोह से मुक्त नहीं है। अपनी रचनाओं के द्वारा वह नए संवेदन को अभिव्यक्ति देता है और नए शब्दों के माध्यम से एक असाधारण चमत्कार प्रस्तुत करना चाहता है।

हिन्दी साहित्य में इस नएपन का आन्दोलन तब शुरू हुआ, जब आदर्शवादी भावधारा अमनोवैज्ञानिक सिद्ध होने लगी व साहित्यकार कल्पनाजगत से हटकर यथार्थता की ओर झांकने लगा था। भावुकतावश लिखे गए तथ्यों को भी तर्क की कसौटी पर कसा जा रहा था और साहित्यकार के मन में कुछ अपूर्व सत्य अर्थात् अनभिव्यक्त को अभिव्यक्त करने की भावना जगने लगी थी।

जब अपूर्ण अर्थबोध के नाम पर अपूर्व (अप्रयुक्त) शब्दों का प्रयोग हुआ, तब कविता अकविता बन गई और कहानी अकहानी में बदल गई। अकविता और अकहानी ने साहित्य-जगत में एक परिवर्तन ला दिया। परिवर्तन किसी को अनभिप्रेत नहीं होना चाहिए, यदि उसमें सृजन के भाव लुप्त न हों। जो साहित्यकार परिवर्तन को नकार देता है, वह युग की भावधारा के साथ नहीं चल सकता। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने

एक समीक्षात्मक निबन्ध में लिखा है—प्रत्येक देश का आधुनिक भाव-बोध उसके सामाजिक परिवेश, लक्ष्य तथा उद्देश्य के आधार पर बनाया जाता है। इस आधार को मानकर चलनेवाले साहित्यकार किसी भी स्थिति में रूढ़ नहीं हो सकते। आज का जो कहानीकार अकहानी में विश्वास करता है, वह अपनी रचनाओं में नग्न सत्य को प्रस्तुत करता है। क्योंकि आवृत सत्य से वह ऊब चुका है। आदर्श की बात बताने मात्र से आदर्श आत्मगत नहीं होता। इसलिए आदर्श को व्यवहार की भूमिका में लाने का प्रयास हो रहा है।

अतीत को छोड़कर वर्तमान में जीना, कल्पना के परों को तोड़कर यथार्थ में आना दर्शन-जगत की बहुत बड़ी उपलब्धि है, किन्तु साहित्य-जगत में लक्षणा और व्यंजना दोनों का मूल्य है। साहित्य हमारी त्रैकालिक सम्पदा है। इसमें केवल वर्तमान को ही आधार मिलता रहा तो अतीत विस्मृत हो जाएगा और भविष्य धुंधला। इसी प्रकार लाक्षणिक सत्य के प्रति जितनी जिज्ञासा और आकर्षण होता है, वह सीधी बात पढ़ने में नहीं होता। अतः आज के साहित्यकार को सोचना होगा कि सत्य को सर्वथा मुक्त रूप में प्रस्तुत किया जाए या उसे लिबास भी पहनाया जाए?

अकविता और अकहानी के माध्यम से आज का कलाकार साहित्य क्षेत्र में एक हलचल मचा रहा है। नए शब्दों और नए प्रतिमानों का जाल बिछाकर अपने साहित्य को सर्वोत्कृष्ट बताना साहित्यकार का लक्ष्य बन गया है। पर वास्तव में शब्द और प्रतिमान नए होते ही नहीं हैं। अतीत पर विस्मृति का जो गहरा लेप लग जाता है, उसे धो देने से पुराना ही नया बन जाता है। कुछ लोग सोचते हैं कि अकहानी बीसवीं शताब्दी की देन है। पर जैन आगम-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि आज से हजारों वर्ष पहले कहानी की तरह अकहानी भी होती थी। किन्तु उस समय अकहानी की परिभाषा दूसरी थी। अकहानी के संदर्भ में यह भी समझ लेना चाहिए कि अतीत में इसकी क्या स्थिति रही है।

जैन आगमों के चार विभाग हैं—द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग। आगमों के रचनाकार श्रोताओं और पाठकों की योग्यता को ध्यान में रखकर अपने साहित्य को कई भागों में बांट

देते थे। कहानी एक ऐसा माध्यम है जो तत्त्व को सहज रूप से गम्य करा देता है। अतः कथा साहित्य का भी बहुत बड़ा महत्व है।

धर्मकथा के चार प्रकार हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी। ये कथाएं ही प्रज्ञापक, प्ररूपक अथवा श्रोताओं की अपेक्षा से अकथा, कथा और विकथा—इन तीन भागों में बंट जाती हैं।

कथा किसे कहते हैं? इस प्रश्न के समाधान में शास्त्रों में बताया गया है—तप, संयम आदि गुणों से अन्वित, चरित्र में लीन मुनि संसारस्थ प्राणियों के लिए हितकर परमार्थ का उपदेश देते हैं। वह कथा कहलाती है।¹

जो मुनि अनवधानता और रागात्मक अथवा द्रोहात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर उपदेश देते हैं, उसे विकथा कहते हैं।²

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के विपाकोदय से प्रेरित होकर अज्ञ व्यक्ति जो कथा कहते हैं, वह अकथा अकहानी होती है।³

उस समय जो अकहानी का अर्थ प्रचलित था, उसके अनुसार वह कोई साहित्य की श्रेष्ठ विधा नहीं मानी जाती थी, किन्तु आज इस शब्द का उत्कर्ष हो गया है। इसलिए कहानी की अपेक्षा अकहानी अधिक प्रभावशाली बन गई है।

कहानी कैसी होनी चाहिए? इस जिज्ञासा के समाधान में लिखा गया है 'जिस कहानी को सुनने से संवेग और निर्वेद प्राप्त होता है, वह तप, नियम और विरक्ति की प्रतीक कहानी कथनीय है।'⁴

-
1. तवसंजमगुणधारी, जं चरणरया कर्हेति सभ्भावं।
सव्वजगज्जीवहियं, सा उ कहा देसिया समए॥ दस. नि. गा. 183
 2. जो संजतो पमत्तो, रागदोसोवसगओ परिकहेइ।
सा उ विकहा पवयणे, पणत्ता धीरपुरिसेहिं॥ दस. नि. गा. 184
 3. मिच्छत्तं वेदंतो, जं अण्णाणी कंहं परिकहेइ।
लिंगत्थो व गिही वा, सा अकहा देसिया समए॥ दस. नि. गा. 182
 4. समणेण कहेतव्वा, तवणियमकहाविरागसंजुत्ता।
जं सोऊण मणुस्सो, वच्चइ संवेग-निव्वेदं॥ दस. नि. गा. 186

‘जिस कहानी को सुनने से श्रोता में श्रृंगार रस उत्तेजित होता है, मोह-जनित फुफकार होती है और अट्टहास करने की स्थिति पैदा होती है, वह कहानी अकथनीय है।¹ अकहानी की शैली इस क्रम से सर्वथा भिन्न है। जिस रचना में श्रृंगार या वीर रस उत्तेजित नहीं होते, वह रचना आज के साहित्यकारों की मान्यता नहीं पा सकती। इसलिए अकहानी के लेखक अपनी रचना में श्रृंगार रस की तीव्र अभिव्यक्ति दे रहे हैं। श्रृंगार रस से संपृक्त होने पर भी इस कहानी की सबसे बड़ी एक उपलब्धि है कि यह लेखक और पाठक के लिए केवल मनोरंजन की सामग्री ही उपलब्ध नहीं करती, जीवन को समझने का उपक्रम भी प्रस्तुत करती है। इस अकहानी में मनोविश्लेषण के साथ संकेतों और प्रयोगों की विशिष्ट शैली का अवगाहन भी किया गया है। अकहानी का आकार कितना होना चाहिए? इस बारे में कहानीकारों का कोई निश्चित मन्तव्य नहीं है। आगम-साहित्य में इसके परिमाण के बारे में लिखा गया है—‘महान अर्थवाली कथा को भी संक्षेप में कहना चाहिए, जिससे श्रोता उकताए नहीं। कथा को संक्षेप करने का दूसरा कारण यह भी है कि विस्तार से कही गई कहानी उसके कथ्य को खो देती है।’²

साहित्य की हर विधा में यह तत्त्व अभिलषणीय है कि उसमें शब्दों का जाल कम से कम हो और अर्थ की अभिव्यक्ति अधिक से अधिक। भावबोध के इस क्षेत्र में नई कहानी बहुत सफल हुई है। आज के कथाकार वैयक्तिक और सामाजिक चेतना के विविध स्तरों को छूते हुए अपनी लेखन-शक्ति को आगे बढ़ाएंगे तो अकहानी साहित्य-जगत की एक सशक्त और आकर्षक विधा सिद्ध हो सकेगी।

1. सिंगाररसुत्तइया मोहकुवितफुंगुगा हसहसेंति।

जं सुणमाणस्स कहं समणेण ण सा कहेयव्वा॥ दस. नि. गा. 185

2. अत्थमहंती वि कहा, अपरिकिलेसबहुला कहेतव्वा॥

हंदि महया चडगरत्तणेण अत्थं कहा हणइ॥ दस. नि. गा. 187

मनुष्य सबसे पहले एक छोटी भूल करता है। छोटी समझकर वह स्वयं उसकी उपेक्षा कर देता है और दूसरे भी उसका प्रतिकार नहीं करते तो स्खलनाओं के लिए मार्ग खुल जाते हैं। **छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति**—एक छिद्र हो जाने के बाद अनर्थों की परम्परा बढ़ती जाती है। अतः साधनाशील व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने जीवन के प्रति लापरवाह न रहे। लापरवाह रहनेवाला गलती न करके भी बहुत बड़ी गलती से होनेवाले दुःख को प्राप्त कर लेता है। जो व्यक्ति जागरूक रहता है, उससे कोई गलती हो भी जाती है तो भी वह शीघ्र ही उसका संशोधन कर लेता है, जिससे उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता।

परिशिष्ट

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय

बीसवीं सदी के प्रख्यात धर्मनायक, लाखों लोगों की आस्था के केन्द्र, गति, प्रकाश और ऊर्जा के पर्याय, महामानव आचार्यश्री तुलसी की एक विलक्षण कृति है—संघमहानिदेशिका महाश्रमणी असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्यों के निर्देशन में साध्वी-समाज का पांच दशकों तक कुशल नेतृत्व कर इन्होंने एक गौरवपूर्ण कीर्तिमान बनाया है। शुभ्रवसना, ज्योति-शक्तिस्वरूपा ये एक अप्रमत्त साधिका हैं जिनमें अध्यात्मनिष्ठा, गुरुनिष्ठा और संघनिष्ठा की त्रिवेणी प्रवाहित है।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का जन्म 22 जुलाई सन् 1941 को कोलकाता महानगर में हुआ। इनके पिता का नाम सूरजमलजी बैद एवं माता का नाम छोटी बाई था। बालिका कला बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि, विवेकशील एवं संकोची स्वभाव की थी। 15 वर्ष की आयु (सन् 1956) में उन्होंने पारमार्थिक शिक्षण संस्था में प्रवेश किया। लगभग 4 वर्षों की प्रशिक्षण अवधि के दौरान कला ने विनम्र एवं मेधावी मुमुक्षु के रूप में अपना स्थान बनाया।

गुरु पूर्णिमा का पवित्र दिन (8 जुलाई, सन् 1960) उम्र के 19वें पायदान पर, तेरापंथ की उद्गम स्थली केलवा में नवमाधिशस्ता आचार्यश्री तुलसी से चारित्र ग्रहण किया। गुरु की पवित्र सन्निधि में व्याकरण, कोश, तर्कशास्त्र, आगम, दर्शन आदि अनेक विद्या-शाखाओं का तलस्पर्शी अनुशीलन कर सप्तवर्षीय संघीय पाठ्यक्रम में विशेष योग्यता प्राप्त की। अध्ययन-अध्यापन और लेखन के साथ हजारों पद्य परिमाण कण्ठस्थ कर साध्वियों की अग्रिम पंक्ति में स्थान बना लिया।

12 जनवरी सन् 1972, गंगाशहर की गौरवशाली धरा पर आचार्यश्री तुलसी ने इन्हें साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्त किया। उस समय इनकी अवस्था मात्र 30 वर्ष थी। तब से लेकर अनवरत तेरापंथ की अष्टम साध्वीप्रमुखा के रूप में गुरुत्रयी (श्री तुलसी-महाप्रज्ञ-महाश्रमण) के पावन निर्देशन में ये विशाल साध्वी समुदाय का गरिमापूर्ण नेतृत्व कर रही हैं।

इनके बहुआयामी व्यक्तित्व, नेतृत्व और कर्तृत्व को विविध रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

प्रभावी प्रवक्ता

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी एक प्रभावशाली वक्ता हैं। इनका वक्तव्य एक-एक वाक्य को प्रेरणा-दीप बनाने वाला प्रतीत होता है। शब्दों का सहज प्रवाह, रोचक उदाहरण, संक्षिप्तता और नवीनता इनके वक्तृत्व की विरल विशेषताएं हैं। अनेकशः अनुभव होता है कि एक बार साध्वीप्रमुखाश्री का प्रवचन सुनने वाला व्यक्ति सदा के लिए इनके प्रभाव-क्षेत्र में आ जाता है। विशेष संघीय उपक्रम हो या सार्वजनिक कार्यक्रम, सभा-संस्था के अधिवेशन हों या दैनिक प्रवचन, गंभीर वक्तृत्व-शैली श्रोताओं के अन्तःकरण को परिवर्तन की दिशा में प्रस्थित कर देती है।

प्रबुद्ध साहित्यकार

साध्वीप्रमुखाश्रीजी साहित्य-क्षितिज पर एक प्रौढ़ लेखिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्राञ्जल भाषा, प्रभावी लेखन शैली, कसे हुए वाक्य तथा तथ्य-कथ्य की पूर्ण अभिव्यक्ति देने वाला शब्द-शिल्पन इनकी सृजन चेतना के अपूर्व वैशिष्ट्य हैं। भाव, भाषा और शैली का यह अद्भुत सौष्टव पाठक को अथ से इति तक बांधे रखता है। गद्य, पद्य, इतिहास, उपन्यास, यात्रावृत्त, जीवनवृत्त आदि विविध विधाओं में इनकी लेखनी निर्बाध रूप से प्रवाहित हुई है।

इस साहित्यिक प्रतिभा ने न केवल सामान्य पाठकों को बल्कि देश के प्रसिद्ध साहित्यकारों, मूर्धन्य लेखकों और विचारकों को भी प्रभावित किया है।

नैसर्गिक कवयित्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी को निसर्गतः काव्य प्रतिभा प्राप्त है। इनकी कविताओं में संवेदनशीलता, सौन्दर्य बोध, क्रान्ति की गूँज और भक्ति का प्रवाह स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। 'सांसों का इकतारा' तथा 'धूप-छांव' दो प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं, जिनमें विविध विषयस्पर्शी 200 से अधिक कविताओं का समाहार है। इनके द्वारा रचित शताधिक गीतों में भक्ति-समर्पण के साथ-साथ युगीन समस्याओं का समाधान भी समाहित है। संस्कार-निर्माण एवं नारी सशक्तीकरण के सन्दर्भ में भी इन्होंने अन्तःस्पर्शी गीत रचे हैं।

'तुलसी-प्रबोध' एवं 'विकास की वर्णमाला' इनकी गागर में सागर तुल्य सरस गेय कृतियां हैं।

कुशल संपादिका

लेखिका और कवयित्री होने के साथ-साथ साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ख्यातिप्राप्त संपादिका भी हैं। आचार्यश्री तुलसी ने हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषा में तत्त्वविद्या, दर्शन, योग, काव्य-साहित्य, जीवन-चरित्र, आध्यात्मिक-औपदेशिक गीतों से सम्बद्ध शताधिक ग्रन्थों की सर्जना की। उनमें अधिकांश ग्रन्थों का संपादन साध्वीप्रमुखाजी ने किया। तुलसी जन्म शताब्दी (सन् 2014) के अवसर पर तुलसी वाङ्मय को नए परिवेश में प्रस्तुत कर एक ऐतिहासिक कार्य किया। वाङ्मय में समाहित आचार्यश्री तुलसी की आत्मकथा 'मेरा जीवन : मेरा दर्शन' (25 खण्ड) को कालजयी ग्रन्थमाला माना जा सकता है। आगम सम्पादन कार्य में भी संपृक्त रहीं। विशालकाय भगवती सूत्र की जोड़ (7 खण्ड) का श्रमसाध्य सम्पादन इनकी स्थितप्रज्ञता का प्रतीक है।

व्यक्तित्व निर्मात्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी का आध्यात्मिक व्यक्तित्व चतुर्विध धर्मसंघ के अनेक व्यक्तियों को नई दृष्टि और नई दिशा देने वाला है। साध्वियों की प्रतिभा को निखारकर, युगानुरूप उन्हें आगे बढ़ाकर, संस्कारों की

सुरक्षा-संवर्धन कर ये अपना दायित्व निर्वहन कर रही हैं। संघीय धरातल पर साध्वी-समाज और महिला-समाज के अनेक सक्षम व्यक्तित्व इनके कर्तृत्व की फलश्रुति है। साध्वीप्रमुखाजी ने नारी की नैसर्गिक विशेषताओं, क्षमताओं और सेवाओं को उभारकर उसके व्यक्तित्व को अपरिमेय ऊँचाई प्रदान की है। अस्तित्व-बोध से लेकर दायित्व-बोध तक उसे प्रशिक्षित किया है। क्रान्त विचारों और सशक्त लेखनी द्वारा ये महिला समाज का आध्यात्मिक पथदर्शन कर रही हैं।

प्रशासन एवं प्रबन्धन-वेत्ता

साध्वीप्रमुखाजी का प्रशासन एवं प्रबंधन कौशल बेजोड़ है। इनकी मृदु अनुशासना साध्वियों के विकास का पथ प्रशस्त करती है। अयाचित कृपा, वत्सलता और आत्मीयतापूर्ण प्रेरणा इनकी प्रशासन शैली के आधारभूत अंग हैं। इसी प्रशासन-कौशल की बदौलत ये चतुर्विध धर्मसंघ की आस्था धाम बनी हुई हैं।

प्रशासनिक दक्षता के साथ-साथ इनकी प्रबन्धन पटुता भी विलक्षण है। समय-प्रबन्धन, कार्य-प्रबन्धन एवं व्यक्ति-प्रबन्धन में इनका वैशिष्ट्य विख्यात है। सद्यः स्फुरित मनीषा, स्फूर्ति और सुनियोजित कार्यशैली ने इनके जीवन में कामयाबियों के कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

संघीय सम्मान

तेरापंथ के महान तेजस्वी गुरुत्रयी युग में अपनी विनम्र सेवाएं समर्पित कर साध्वीप्रमुखाजी कृतार्थता का अनुभव कर रही हैं। समय-समय पर युगद्रष्टा आचार्यों के मुख कमल से निःसृत उद्गार इनके वजनदार व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी इस अद्वितीय कृति को **महाश्रमणी** (9 सितम्बर सन् 1989) और **संघमहानिदेशिका** (8 नवम्बर सन् 1991) जैसे महनीय पदों से तथा वर्तमान अनुशास्ता ने **असाधारण साध्वीप्रमुखा** (1 अगस्त 2016) एवं 'अहिंसा यात्रा को विभूषित करने वाली विभूति' (6 दिसम्बर 2020) के रूप में प्रतिष्ठित किया।

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य

(तुलसी वाङ्मय)

आत्मकथा साहित्य

1. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
2. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
3. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
4. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
5. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
6. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
7. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
8. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
9. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
10. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
11. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
12. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
13. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
14. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
15. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
16. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
17. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
18. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
19. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
20. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

21. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
22. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
23. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
24. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
25. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

गद्य साहित्य

26. महावीर : जीवन और दर्शन
27. हे प्रभो! यह तेरापंथ
28. तेरापंथ का प्राणतत्त्व
29. क्रान्तिकारी आचार्य भिक्षु
30. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य
31. महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी
32. अध्यात्म : अन्तस का स्पर्श
33. निर्ग्रन्थ प्रवचन ही परम सत्य है
34. अर्हत ने कहा
35. जैन दर्शन : आत्म दर्शन
36. जैन तत्त्वविद्या
37. अहिंसा : अमृत का महासागर
38. धम्मं सरणं पवज्जामि
39. जैन जीवनशैली
40. निर्माण : नए मानव का
41. प्रेक्षाध्यान : अध्यात्म का सोपान
42. अणुव्रत : गति प्रगति
43. अणुव्रत के आलोक में
44. अणुव्रत : नैतिकता का शंखनाद
45. शिक्षा : रूपान्तरण की प्रक्रिया
46. सन्देश : देश के नाम

47. दोनों हाथ : एक साथ
48. कुहासे में उगता सूरज
49. सार्थकता संवाद की
50. मेरी अनुभूतियां : मेरी कृतियां
51. सीख सुमत
52. तुलसी साहित्य की बोधकथाएं

काव्य साहित्य

53. माणक-डालिम-चरित्र
54. कालूयशोविलास-1
55. कालूयशोविलास-2
56. मगन चरित्र
57. सेवाभावी मुनि चम्पक
58. लाडां-वदना-सुजस
59. भरत-मुक्ति
60. चन्दन की चुटकी भली
61. आत्मोदय की ओर
62. आत्मा के आसपास
63. श्रावक-संबोध
64. पण्णा समिक्खए
65. तेरापंथ-प्रबोध : सम्बोध
66. नन्दन निकुंज
67. सोमरस
68. सुधारस
69. तुलसी-पदावली

संस्कृत साहित्य

70. जैनसिद्धान्तदीपिका
71. भिक्षुन्यायकर्णिकामनोनुशासने

72. काव्यामृतम्

73. निबन्धनिकुरम्बम्

पत्र : सन्देश : संवाद साहित्य

74. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-1

75. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-2

76. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-3

77. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-1

78. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-2

79. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-3

80. सन्देश : राष्ट्र नेताओं के नाम

81. संवाद : शिखर पुरुषों के साथ

82. संवाद : प्रबुद्ध पुरुषों के साथ

83. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश – 1

84. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश – 2

जय साहित्य

85. भगवती जोड़ – 1

86. भगवती जोड़ – 2

87. भगवती जोड़ – 3

88. भगवती जोड़ – 4

89. भगवती जोड़ – 5

90. भगवती जोड़ – 6

91. भगवती जोड़ – 7

92. झीणी चर्चा (सानुवाद)

93. आराधना (सानुवाद)

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य

यात्रा साहित्य

1. रण की गोद में
2. जा घर आए संत पाहुने
3. तीन समुद्रों के तट पर
4. नए प्रदेश : नए अनुभव
5. जोगी तो रमता भला
6. बहता पानी निरमला
7. पांव-पांव चलने वाला सूरज
8. पंजाब में अध्यात्म का उजाला
9. संत चरण गंगा की धारा
10. जब महक उठी मरुधर माटी
11. परस पांव मुसकाई घाटी
12. गांधी के गुजरात में
13. धर कूचां : धर मजलां
14. अरावली के अंचल में
15. उत्सव : आधी शताब्दी का
16. अमृत घट छलके
17. भारत ज्योति बनाम आत्मज्योति
18. अमृत पुरुष : जन्मभूमि में
19. यमुना के तीर पर
20. परिक्रमा प्रकाश की

गद्य साहित्य

21. अकथ कथा गुरुदेव की
22. लिखन बैठि जाकी छवि
23. करत-करत अभ्यास
24. कदम-दर-कदम
25. आधी दुनिया
26. बदले युग की धारा
27. विकास पुरुष ऋषि हेम
28. स्मृति के दर्पण पर
29. गणं सरणं गच्छामि
30. आयरियं सरणं गच्छामि
31. धम्मो दीवो पइट्ठा
32. एस धम्मे धुवे
33. सोपान निर्माण के
34. सत्यं शिवं सुन्दरं
35. सफर सम्पादन का – 1
36. सफर सम्पादन का – 2
37. प्रेरणा का दरिया

काव्य साहित्य

38. सांसों का इकतारा
39. धूप-छांव
40. बिन बाती बिन तैल
41. तुलसी-प्रबोध
42. विकास की वर्णमाला

संस्मरण साहित्य

43. प्रेरणा : पल दो पल की – 1
44. प्रेरणा : पल दो पल की – 2
45. प्रेरणा : पल दो पल की – 3

- 46. प्रेरणा : पल दो पल की – 4
- 47. प्रेरणा : पल दो पल की – 5
- 48. प्रेरणा : पल दो पल की – 6

पत्र साहित्य

- 49. धरोहर अक्षरों की – 1
- 50. धरोहर अक्षरों की – 2
- 51. धरोहर अक्षरों की – 3